

ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXI-LXII

No. IV-I

Oct.-Dec. 09 - Jan.-Mar. 2010



Pārśwanātha Vidyāpīṭha, Varanasi
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

श्रमण

ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Jainology
(Combined Issue)

Vol. LX-LXI

No. IV, I

Oct.-Dec. 09-Jan.-March 10

Editor

Dr. S. P. Pandey

Publisher



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi
(Recognized by Banaras Hindu University
as an external Research Centre)

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

Śramṇa

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LX-LXI

No. IV, I

Oct.-Dec. 09-Jan.-March 10

Combined Issue

ISSN-0972-102

Subscription

Annual Membership

For Institutions : Rs. 300.00

For Individuals : Rs. 250.00

Per Issue Price : Rs. 50.00

Life Membership

For Institutions : Rs. 1500.00

For Individuals : Rs. 1000.00

Membership fee can be sent in the form of cheque or draft only in the name of Parshwanath Vidyapeeth

Published by : Shri Indrabhooti Barar for Parshwanath
Vidyapeeth
I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005
Ph. 911-0542-2575521, 2575890

Email : pvri@sify.com

Type setting by : Vimal Chanra Mishra
Parvatipuri Colony, Gurubag, Varanasi

Printed at : Mahaveer Press
Bhelupur, Varanasi-221010

Note : The Editor may not be agreed with the views or the facts stated in this Journal by the respected authors.

सम्पादकीय

श्रमण अक्टूबर-दिसम्बर २००९, जनवरी-मार्च २०१० का संयुक्तांक सम्माननीय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। पूर्व की भाँति इस अंक में भी जैन दर्शन, साहित्य, आचार, इतिहास एवं कला से सम्बद्ध आलेखों को स्थान दिया गया है। प्रस्तुत अंक के हिन्दी खण्ड में जैन दर्शन, जैन साहित्य, जैन आचार एवं जैन इतिहास पक्ष से आलेख प्रकाशित किये गये हैं। अंग्रेजी खण्ड में जैन योग, एवं कला-इतिहास से सम्बद्ध आलेख प्रस्तुत हैं। हमारा प्रयास यही रहता है कि श्रमण का प्रत्येक अंक पिछले अंकों की तुलना में हर दृष्टि से बेहतर हो और उसमें प्रकाशित हो रहे सभी आलेख शुद्ध रूप में मुद्रित हों।

इस अंक के साथ हम अपने सम्माननीय पाठकों के लिए जैन कथा साहित्य में विशिष्ट स्थान रखने वाली प्राकृत भाषा में निबद्ध श्रीमद् धनेश्वरमुनि विरचित 'सुरसुंदरीचरिअं' का आठवाँ परिच्छेद भी प्रकाशित कर रहे हैं जो गणिवर्य श्री विश्रुतयशविजयजी म.सा. द्वारा की गयी संस्कृत छाया, गुजराती अर्थ और हिन्दी अनुवाद से युक्त है। यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हमें पूज्य आचार्य विजय राजयशसूरीश्वर जी म.सा. के सौजन्य से प्राप्त हुआ है जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। **सुरसुंदरीचरिअं** के आगे के परिच्छेदों की संस्कृत छाया, गुजराती अर्थ और हिन्दी अनुवाद भी हमें जैसे-जैसे पूज्य विश्रुतयश विजय जी म.सा. से प्राप्त होते जायेंगे, उसी क्रम से हम धारावाहिक रूप में श्रमण में प्रकाशित करते रहेंगे।

सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे अपने अमूल्य विचारों/आलोचनाओं से हमें अवगत कराने की कृपा करें ताकि 'श्रमण' को और अधिक समृद्ध बनाया जा सके।

सम्पादक

श्रमण

अक्टू. -दिसम्बर ०९ -जनवरी-मार्च १०
संयुक्तांक

सम्पादकीय
विषयसूची

हिन्दी खण्ड

१. ध्वनिवर्धक का प्रश्न हल क्यों नहीं होता?
क्या विद्युत अग्नि है? -उपाध्याय अमरमुनि १
२. जैनधर्म में धार्मिक-सहिष्णुता की स्थापना के मूल आधार
-डॉ. राजेन्द्र जैन १४
३. जैन दर्शन में काल की अवधारणा -डॉ. सुदर्शन मिश्र ३१
४. जैन दर्शन में आकाश -डॉ. रामजी राय ३७
५. बौद्ध परम्परा में सौन्दर्यशास्त्र का दर्शन -डॉ. रामकुमार गुप्त ४२
६. जैन आगमों में वर्णित शासन-व्यवस्था -डॉ. अरुणिमा रानी ४९
७. जैनसाधनापद्धति : मनोऽनुशासनम् -डॉ. हेमलता बोलिया ५७
८. श्रमणपरम्परा में समाज व्यवस्था -डॉ. हरिशंकर पाण्डेय ६६
९. पातञ्जल 'योगदर्शन' और हेमचन्द्राचार्य रचित
'योगशास्त्र' में प्राणायाम का निरूपण -प्रो. डॉ. विष्णुकुमार पुरोहित ७४
१०. महावग्ग में औषधि एवं शल्य चिकित्सा -डॉ. दिवाकर लाल श्रीवास्तव ८१
११. जीवन (कविता) ८८

ENGLISH SECTION

12. Development of Jaina Yoga -Dr. Ashok Kumar Singh 89
13. Sāmāyika -Padmanabh S. Jaini 108
14. A Study of Jain Monastic Life -Dr. Sunil Kumar Jain 117
१५. विद्यापीठ के प्रांगण में १२५-१२९
१६. जैन जगत् १३०-१४७
१७. सरसुंदरीचरित्रं ५०३-६१४

हिन्दी खण्ड

- ध्वनिवर्धक का प्रश्न हल क्यों नहीं होता? क्या विद्युत अग्नि है?
- जैनधर्म में धार्मिक-सहिष्णुता की स्थापना के मूल आधार
- जैन दर्शन में काल की अवधारणा
- जैन दर्शन में आकाश
- बौद्ध परम्परा में सौन्दर्यशास्त्र का दर्शन
- जैन आगमों में वर्णित शासन-व्यवस्था
- जैनसाधनापद्धति : मनोऽनुशासनम्
- श्रमणपरम्परा में समाज व्यवस्था
- पातञ्जल 'योगदर्शन' और हेमचन्द्राचार्य रचित 'योगशास्त्र' में प्राणायाम का निरूपण
- महावग्ग में औषधि एवं शल्य चिकित्सा
- जीवन (कविता)

ध्वनिवर्धक का प्रश्न हल क्यों नहीं होता? क्या विद्युत अग्नि है?

उपाध्याय अमरमुनि

प्रस्तुत लेख 'श्री अमर भारती' के अप्रैल-मई, २००८ अंक में प्रकाशित हुआ था। लेख विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और समसामयिक होने से साभार यहां प्रकाशित किया जा रहा है। आज जैन साधु एवं श्रावक समाज में विद्युत अग्नि है या नहीं, इस प्रश्न को लेकर काफी ऊहापोह की स्थिति है। सही स्थिति की जानकारी न होने के कारण साधु भगवन्तों की प्रवचन सभाओं में हजारों की भीड़ हो जाती है, सुनाई कुछ देता नहीं है, शोरगुल होता है, आकुलता बढ़ती है, तथा जनता के मन खिन्न हो जाते हैं। यह एक प्रकार की मानसिक हिंसा है। आशा है उपाध्याय श्री अमर मुनि का काफी पहले लिखा गया यह प्रस्तुत लेख इस विषय में संशय की स्थिति को दूर कर सही स्थिति कायम करने में सफल होगा।

-सम्पादक

आज से लगभग पैंतीस वर्ष पहले की बात है; अजमेर में बड़े समारोह के साथ 'साधु सम्मेलन' हुआ था। मैं भी उसमें गया था, प्रतिनिधि के रूप में नहीं, गुरुदेव की सेवा में एक साधारण शिष्य के रूप में। ध्वनिवर्धक का प्रश्न आया तो कुछ मुनि बोल गए और कुछ नहीं बोले। बस, तभी से ध्वनिवर्धक का प्रश्न उलझ गया। संघ में उस समय बड़े-बड़े नामी-गिरामी महारथी थे, परन्तु किनारे का निर्णय नहीं कर सके और प्रश्न अधिकाधिक जटिल होता गया। अनिश्चय की परम्परा आगे बढ़ चली

इसके बाद तो 'सादड़ी सम्मेलन' हुआ, 'सोजत सम्मेलन' हुआ और फिर 'भीनासर (बीकानेर) सम्मेलन' हुआ। ध्वनिवर्धक का प्रश्न अधर में लटकता रहा। भीनासर में इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास हुआ, बिलकुल बेकार का। न पुत्रो न पुत्री। न इधर न उधर। सैद्धान्तिक एवं वैज्ञानिक चर्चा होकर निर्णय होना चाहिए था वैसे तो कुछ हुआ नहीं। बस, आप मान जाइए, आप मान लीजिए। संगठन को कायम रखना है। यह टूट न जाए और इस प्रकार संगठन के व्यामोह में लूला-लंगड़ा प्रस्ताव पास हो गया, जो अब तक परेशान कर रहा है—विरोधी और अनुरोधी दोनों ही पक्षों को। भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः। स्वयं मेरी

अन्तरात्मा ने कितनी ही बार मुझसे पूछा है—‘तूने यह सब क्या किया? सिद्धान्तहीन समझौता कैसे कर गया तू?’ क्या उत्तर दूँ मैं? बस, यही कि संगठन की धुन सवार थी मन-मस्तिष्क पर। जैसे भी हो, संगठन बना रहे, यही एकमात्र व्यामोह था उन दिनों। यदि वह संगठन बना रहता, तब भी मन को कुछ सन्तोष तो रहता। पर, वह भी कहाँ रहा? देर-सबेर एक-एक कर के साथी बिछड़ते और बिखरते गए और संगठन केवल संगठन के नाम पर जिन्दा रहा। अब भी, वह इसी नारे के बल पर जिन्दा है।

कितनी बड़ी विचार दरिद्रता?

मैं विचार करता हूँ—यह सब क्या है, क्यों है? कितना लम्बा समय गुजर गया। हम नौजवान से बूढ़े हो गए, और बूढ़े परलोकवासी हो गए। गंगा का अरबों टन पानी बहकर सागर में पहुँच गया। विश्व की राजनीतिक स्थितियाँ कहाँ से कहाँ पहुँच गई, और हम हैं कि जहाँ के तहाँ खड़े हैं। जहाँ के तहाँ भी नहीं, कुछ पीछे ही लौटे हैं। क्या इसका यह अर्थ नहीं कि हम कुछ विचार दरिद्र हैं, अच्छी तरह सिद्धान्त और स्थिति का जायजा नहीं ले सकते! खुले मन मस्तिष्क से सोचने-समझने के हम आदी नहीं हैं। यदि कोई स्पष्ट विचार उपस्थित करता भी है तो हम उसे सुनने तक को तैयार नहीं हैं। हमारा धर्म इतना दुर्बल है कि वह विरोधी विचार सुनने मात्र से घबराता है, कतराता है। जो विचार अपने ध्यान में नहीं बैठता हो तो उसका प्रतिवाद भी हो सकता है। प्रतिवाद करना बुरा नहीं, परन्तु हमारे यहाँ तो प्रतिवाद का अर्थ विचार के बदले गालियाँ देना है। इधर-उधर काना-फूसी में गालियाँ दें, या अखबारों में, बात एक ही है। और इसका परिणाम होता है कि कितनी ही बार समझदार व्यक्ति सब कुछ समझकर भी सत्य के समर्थन के लिए समाज के सामने नहीं आते। चुप होकर बैठे रहते हैं—अपनी इज्जत बचाने के लिए। इतना आतंक है इन रूढ़िचुस्त महाप्रभुओं का!

ध्वनिवर्धक का प्रश्न क्यों अटकता रहा?

ध्वनिवर्धक का प्रश्न कुछ तो वस्तु स्थिति को न समझने के कारण अटका हुआ है, और कुछ इधर-उधर के बौखलाये हुए लोगों के आतंक के कारण। एक बात और भी है, कुछ लोगों ने इसे शुद्ध आचार का मापदण्ड ही बना लिया है। कुछ महानुभाव तो वस्तुतः प्रचलित मान्यताओं के कारण भ्रम में हैं, फलतः विद्युत को अग्नि समझते हैं, वह भी सचित्त और इस कारण हिंसा भय से ध्वनिवर्धक पर नहीं बोल रहे हैं। परन्तु मुझे तरस तो आता है उन लोगों पर, जो चरित्रहीन हैं। साधुता तो क्या, नैतिकता का घरातल भी जिनके पास नहीं

ध्वनिवर्धक का प्रश्न हल क्यों नहीं होता? क्या विद्युत अग्नि है? : ३

है। वे भी ध्वनिवर्धक प्रश्न पर अपने को शुद्ध, संयमी प्रमाणित करने के लिए पाँच सवारों में अपने आपको गिनाने लगते हैं। जब किसी बाहर की साधारण बात को शुद्धाचार का मापदण्ड घोषित कर दिया जाता है, तो प्रायः ऐसा ही होता है। इस तरह की स्थिति में ऐसे लोगों की खूब बन आती है, बड़ी सस्ती पूजा-प्रतिष्ठा मिल जाती है। ये लोग संयम की रक्षा के दर्दिले नारे लगाते हैं, और भावुक जनता को धर्म के नाम पर आसानी से बेवकूफ बनाते हैं।

तथाकथित अहिंसाव्रती संयमी मुनिराजों के काष्ठ पात्रों के लिए हरे वृक्ष कट सकते हैं^१। साधुओं के निमित्त खरीदे हुए पात्र आवश्यकतानुसार सामान्य रूप से दीक्षा के बहाने ग्रहण किए जा सकते हैं^२। शिष्यों को अध्ययन कराने के लिए पंडितों के रूप में निजी नौकर रखे जा सकते हैं। पत्र-व्यवहार आदि के लिए स्थायी नौकर के रूप में पी.ए. या क्लर्क की नियुक्तियाँ भी हो सकती हैं। अपने या दिवंगत गुरुजनों के नाम पर संस्थाएँ खड़ी की जा सकती हैं और उनके लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने प्रभाव का उपयोग कर लाखों की संपत्ति भी जमा की जा सकती है। तार, टेलीफोन, पत्र-व्यवहार हो सकता है। अर्थहीन पुस्तकें छप सकती हैं। हजारों दर्शनार्थी इकट्ठे किए जा सकते हैं। शिष्य बनाने के लिए बड़ी रकमों दिलाई जा सकती हैं। दिनभर एक-दूसरे की झूठी-बुराई का बाजार गर्म रख सकते हैं। जाने दीजिए—और भी बहुत कुछ ऐसी-वैसी बातें होती रहती हैं। मेरे महानुभावों का इन सबमें तो संयम नहीं जाता, संयम जाता है केवल ध्वनिवर्धक से और इसका दर्द एक बहुत बड़ा दर्द है, उनके मन में। संयम का खटक जो ठहरा।

कुछ गृहस्थ भी ऐसे हैं, जिनकी मानसिक स्थिति बड़ी विचित्र है। दुकानें चलती हैं, कारखाने घड़ल्ले से चलाये जाते हैं, घर पर बाल-बच्चों की भीड़ है और इसके लिए चौका-चूल्हा-चक्की सब चलता है। रेल, मोटर, तांगा, रिक्शा, जहाज सब सवारियों का उपयोग होता है। क्या करते हैं, क्या बोलते हैं, कोई खास विचार नहीं। परन्तु भाषण देने खड़े होते हैं तो ध्वनिवर्धक सामने आते ही बिदक जाते हैं। वहाँ उनका श्रावकत्व सुदूर आसमान पर चढ़ जाता है। कुछ नहीं, विचार शून्य आचार एक तमाशा बन गया है। जैन परम्परा का इससे बढ़कर और क्या उपहास होगा? अब जनता सब समझने लगी है, कम से कम शिक्षित तो समझने लगे हैं। ये संयम के नाम पर दम्भ के प्रदर्शन कुछ लोगों को ही भुलावे में डाल सकते हैं।

खेद है, ध्वनिवर्धक के साधारण से प्रश्न को कितना तूल दे दिया गया है। यह तो एक बड़ा महाभारत ही हो गया। सत्य स्थिति क्या है, इधर कुछ

ध्यान नहीं दिया जाता। मैं जानता हूँ, मुझसे कुछ महानुभाव नाराज तो होंगे ही, पर मैं अपने विचार प्रकट कर ही देना चाहता हूँ ताकि वास्तविकता क्या है, इसका कुछ थोड़ा-बहुत अता-पता सर्वसाधारण जनता को लगे तो सही।

ध्वनिवर्धक का प्रश्न कहाँ उलझा है?

ध्वनिवर्धक के यन्त्र से कोई आपत्ति नहीं है। आपत्ति है उसमें प्रयुक्त होने वाली विद्युत् से। विद्युत् क्या है, यह तो ठीक तरह वैज्ञानिकों से मालूम किया नहीं, और कुछ पुराने वचनों से और कुछ अपनी कल्पित धारणाओं से विद्युत् को अग्नि समझ लिया, वह भी सचित्त अर्थात् सजीव! और प्रश्न उलझ गया कि सचित्त अग्नि का उपयोग कैसे किया जाए? इधर-उधर से ऊपर के कितने ही समाधान करें, पर मूल प्रश्न अटका ही रहता है। वैसे तो मार्ग में आये सचित्त नदी, जल को पैरों से पार कर सकते हैं, गहरा पानी हो तो नौका से पार कर सकते हैं। जल के असंख्य जीव हैं, फिर अग्नि को छोड़कर अन्य सब काया के जीव हैं, अनन्त-निगोद जीव हैं, पंचेन्द्रिय त्रस प्राणी तक हैं। यह सब अपवाद के नाम पर हो सकता है परन्तु ध्वनिवर्धक का अपवाद नहीं। विद्युत् की अग्नि जरूरत से ज्यादा-परेशान कर रही है। मैं इसी परेशानी पर विचार कर रहा हूँ। विद्युत् क्या है, आज इसी पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूँ।

विद्युत् : अतीत की नजरों में

प्राचीन से प्राचीन भारतीय साहित्य अध्ययन की आँखों से गुजरा है। वेद, उपनिषद्, पुराण, जैन आगम और त्रिपिटक कहीं पर भी धरती पर इस विद्युत् का जिक्र नहीं है। धरती पर यह आविष्कार तब हुआ ही नहीं था, जिक्र होता भी कैसे? प्राचीन काल के लोगों को आकाशगत वायुमंडलीय विद्युत् का ही ज्ञान था और वे उसे एक दैवी प्रकोप समझते थे। मेघ को देव एवं इन्द्र कहते थे, और बिजली को उसका वज्र। आकस्मिक विपत्ति के लिए अनभ्र वज्रपात की जो उक्ति प्रचलित है, वह इसी वज्र की धारणा पर आधारित है। पुराणों में विद्युत् को देवी माना गया है। आजकल भी कुछ आदिवासी जैसे अविकसित या ग्रामीण मनुष्य ऐसे हैं, जो इसे दैवी प्रकोप ही समझते हैं, और बहुत से तो बड़ी रोचक कहानियाँ आकाशीय विद्युत् के विषय में बतलाते हैं। मैंने स्वयं देखा है, जब बिजली कड़कती है तो भोले ग्रामीण अपने इष्टदेव का नाम लेते हैं और रक्षा के लिए दुहाई देते हैं। ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि पुराने युग में मनुष्यों को बादलों की बिजली का ही ज्ञान था और उसके सम्बन्ध में उनकी विचित्र कल्पनाएँ थीं। उन्हीं कल्पनाओं में यह भी एक कल्पना थी कि बिजली अग्नि है, जल उसका ईंधन है, और वह बादलों की आपस की टकराहट से पैदा होती है।

ध्वनिवर्धक का प्रश्न हल क्यों नहीं होता? क्या विद्युत अग्नि है? : ५

हालाँकि बादल कोई ऐसी वस्तु नहीं है^६, जो परस्पर टकराए। वह तो एक प्रकार की भाप है, और कुछ नहीं। दूरस्थ चमकती वस्तु के सम्बन्ध में तब का साधनहीन मनुष्य कल्पना ही कर सकता था और वह उसने की थी। वह कल्पना सही थी या गलत, यह बात दूसरी है।

विद्युत् : विज्ञान की नजरों में

विद्युत एक शक्ति अर्थात् ऊर्जा है। अतः उसका वास्तविक स्वरूप आधुनिक प्रत्यक्ष प्रमाणित विज्ञान की आँखों से ही देखना चाहिए।

लगभग ६०० वर्ष पूर्व यूनान के दार्शनिक थेल्स ने बतलाया था कि अम्बर एक ऐसा पदार्थ है जिसे रेशम, ऊन या फलालेन से रगड़ दिया जाए तो उसमें हलकी वस्तुओं को, अर्थात् कागज के छोटे टुकड़ों व तिनकों को खींच लेने की अद्भुत आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जाती है। प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि वस्तुओं को आपस में रगड़ने से वे विद्युन्मय हो जाती हैं। इस प्रकार का प्रयोग यदि काँच की छड़ को रेशम से रगड़ कर या आवनूस की छड़ को फलालेन से रगड़ कर करें, तो देखा जा सकता है कि इनमें आकर्षण का गुण उत्पन्न हो जाता है। प्लास्टिक को शिर के बालों में रगड़ कर कागज के टुकड़ों के आकर्षण का खेल तो आप जब चाहें तब देख सकते हैं। इस प्रकार का गुण सर्वप्रथम अम्बर से प्राप्त हुआ था, जिसे यूनानी भाषा में 'इलेक्ट्रान' कहते हैं। अतः इस शब्द से 'इलेक्ट्रिसिटी' शब्द का जन्म हुआ, जिसे हम संस्कृत भाषा में विद्युत् और प्रचलित हिन्दी भाषा में बिजली के नाम से पुकारते हैं। घर्षण द्वारा आकर्षण बल का समावेशन केवल अम्बर (एम्बर) में ही नहीं, बल्कि गन्धक, काँच, चमड़ा आदि अन्य वस्तुओं में भी आ जाता है। चूँकि यह विद्युत् घर्षण (रगड़) से उत्पन्न होती है, अतः इसे घर्षण विद्युत् कहते हैं।

विद्युत् दो प्रकार की है—धनात्मक (पोजेटिव) और ऋणात्मक (निगेटिव)। दोनों विद्युत् परस्पर भिन्न हैं। समान प्रकार की विद्युन्मयी वस्तुओं में परस्पर प्रतिकर्षण होता है तथा विभिन्न एवं विपरीत प्रकार की विद्युन्मयी वस्तुओं में आकर्षण^६।

आकाशीय विद्युत् का ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम वैज्ञानिक विश्लेषण फ्रेंकलिन (सन् १७५२ ई.) ने किया था। बादल छाये हुए थे, वर्षा हो रही थी, बिजली चमक रही थी। फ्रेंकलिन ने लोहे का एक नुकीला तार बाँधकर हवा में पतंग उड़ाई और डोरी के नीचे के सिरे में एक चाबी बाँध दी। जब पतंग की डोरी भींग गई और बादल पतंग के पास से निकले तो बादलों की विद्युत् डोरी में होकर चाबी में आ गई। चाबी के पास अंगुली लाने से करंट (Current)

की अनुभूति होने लगी। इस प्रयोग से फ्रेंकलिन ने यह सिद्ध किया कि आकाशीय विद्युत् ठीक उसी प्रकार का विद्युत् विसर्जन है जैसा कि घर्षण विद्युत् का होता है। इन दोनों में अन्तर केवल इतना है कि आकाशीय विद्युत् में विसर्जन की मात्रा अधिक होती है। आकाश में बादल होने से आकाश एवं वायुमण्डल विद्युन्मय हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात किया गया कि बिजली की चमक के मुख्य दो कारण होते हैं। पहला तो बादलों के बीच में विद्युत् विसर्जन होने से तथा दूसरा बादल और पृथ्वी के बीच में विद्युत्-विसर्जन होने से चमक पैदा होती है।

बिजली की चमक के साथ कभी-कभी हम एक गड़गड़ाहट की ध्वनि भी सुनते हैं। जब विपरीत विद्युत् युक्त दो वस्तुएँ पास-पास होती हैं, तो उनमें परस्पर आकर्षण होता है। फलस्वरूप दोनों वस्तुओं के बीच में हवा में तनाव उत्पन्न हो जाता है। इस तनाव के अधिक हो जाने पर चिनगारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस क्रिया को विद्युत् निरावेश (Electric discharge) कहते हैं। इस निरावेश के कारण हवा में खलबली होने लगती है, जिसके फलस्वरूप ध्वनि उत्पन्न हो जाती है। इसी क्रिया के फलस्वरूप जब विपरीत विद्युत्-युक्त बादल आपस में पास-पास आते हैं तो चमक और गर्जन साथ-साथ उत्पन्न होती है परन्तु ध्वनि का वेग प्रकाश के वेग से बहुत कम होने के कारण प्रकाश पहले दिखाई देता है, उसके कुछ देर बाद ध्वनि सुनाई देती है।

जिनमें से होकर विद्युत् सुगमतापूर्वक इधर-उधर आ-जा सके, वे वस्तुएँ विद्युत्-चालक (Conductor) कहलाती हैं—जैसे कि सभी धातुएँ, लकड़ी का कोयला, क्षार, अम्ल, मानव शरीर, पृथ्वी आदि। और जिनमें से होकर विद्युत् न बह सके, वे एबोनाइट, काँच, लाख, तेल, गंधक, चीनी, मिट्टी आदि वस्तुएँ विद्युत् के अचालक (Insulator) हैं। चालकों में पानी भी एक अच्छा चालक है, अतः पानी से भीगी हुई सुभी वस्तुएँ, चाहे वे शुष्क अवस्था में विद्युत् की चालक हों या अचालक, चालक हो जाती हैं*।

प्रयोगसिद्ध वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार प्रत्येक तत्त्व के परमाणु के बीच एक केन्द्रीय भाग होता है, जिसे नाभिक कहते हैं। नाभिक के चारों तरफ बहुत ही हल्के कण, जिनको इलेक्ट्रॉन कहते हैं, भिन्न-भिन्न कक्षाओं में परिक्रमा करते रहते हैं। ये कण ऋण विद्युत् से आविष्ट होते हैं। नाभिक में धन विद्युत् से आविष्ट कुछ कण होते हैं, जिन्हें प्रोटोन कहते हैं तथा कुछ आवेशरहित कण होते हैं, जिन्हें न्यूट्रॉन कहते हैं। साधारण अवस्था में जब प्रोटोनों तथा इलेक्ट्रॉनों की संख्या बराबर होती है, तो परमाणु उदासीन होता है। परन्तु परमाणु की बाहरी

ध्वनिवर्धक का प्रश्न हल क्यों नहीं होता? क्या विद्युत् अग्नि है? : ७

कक्षा से इलेक्ट्रॉन कुछ रीतियों से बाहर निकाला जा सकता है। जिस वस्तु के परमाणुओं की बाहरी कक्षा से इलेक्ट्रॉन निकल जाते हैं, वह धन विद्युन्मय तथा जिसमें आ जाते हैं वह ऋण विद्युन्मय हो जाती है। संक्षेप में विद्युत् की परिभाषा की जाए तो हम कह सकते हैं कि इलेक्ट्रॉनों का प्रवाह ही विद्युत् धारा है अर्थात् विद्युत् आवेश के प्रवाह को विद्युत् धारा कहते हैं।

यह विद्युन्मय होने की प्रयोगसिद्धि आधुनिक सिद्धान्त सर जे.जे. टामस के अनुसन्धानों पर निर्भर है। यह विद्युत् की स्पष्ट वैज्ञानिक दृष्टि है, जो सर्वत्र विद्यमान है।

विद्युत् एक अदृश्य ऊर्जा (Energy) है। कार्य के द्वारा ही उसे जाना जाता है। तार आदि में बिजली है या नहीं, यह देख कर नहीं, छूकर ही जान सकते हैं या यन्त्रों के माध्यम से। वर्तमान युग में विद्युत् ही औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रधार है। विद्युत् के ऐसे ऐसे अद्भुत चमत्कार हैं, जो कभी दैवी चमत्कार समझे जाते थे। विद्युत् तरंगों के द्वारा ही रेडियो का आविष्कार हुआ है, जिससे हम लाखों-करोड़ों मील दूर की बात सुन सकते हैं। टेलीविजन के माध्यम से लाखों-करोड़ों मील दूर के दृश्य को हम ऐसे देख सकते हैं, जैसे आँखों के सामने किसी चीज को देख रहे हों। विद्युत् धारा के द्वारा ही विशाल शक्तिशाली चुम्बकों का निर्माण होता है, जिससे भारोत्तोलन आदि के आश्चर्यजनक काम होते हैं। सर्दियों में गर्मी और गर्मियों में सर्दियों के ऋतुसुख का अवतरण भी आज विद्युत् का साधारण खेल है। आज मानव के चरण चाँद पर हैं, इसलिए कि आणविक विद्युत् शक्ति ने जादू का-सा काम किया है।

वैज्ञानिक विद्युत् को अग्नि नहीं मानते। अग्नि जलाती है, और जलना, उनके यहाँ एक विशिष्ट रासायनिक प्रक्रिया है, जिसमें वस्तु हवा के सक्रिय भाग (आक्सीजन) से मिलकर एक नवीन यौगिक बनाती है, जिसका भार मूलवस्तु के भार से अधिक होता है। इस क्रिया में ताप और प्रकाश दोनों उत्पन्न होते हैं।

विद्युत् : जैन आगमों की दृष्टि में

जैन आगमों की चिन्तनधारा मूलतः आध्यात्मिक है। जैनदर्शन का विचार और आचार आत्मानुलक्षी है। अतः वह भौतिक स्थितियों के विश्लेषण में अधिक सक्रिय नहीं रहा है। सर्वाधिक प्राचीन आचारांग और सूत्रकृतांग आदि अब भी उक्त बात के साक्षी हैं। हाँ! उत्तरकालीन आगमों में पदार्थ विज्ञान की चर्चा अधिक मुखर होती चली गई है। उपांगों में तो वह काफी फैल गई है। जहाँ तक भगवान् महावीर की वीतराग देशना का सम्बन्ध है, वहाँ तो चैतन्य एवं परम चैतन्य का ही उद्घोष है। उसी के स्वरूप की चर्चा है और चर्चा है उस परम स्वरूप को

प्राप्त करने के पथ की। अब रहे जैनाचार्य, हाँ, उन्होंने अवश्य भूगोल-खगोल आदि के विशुद्ध भौतिक वर्णनों का अंकन किया है। अतः विद्युत् की चर्चा भी इन्हीं उत्तरकालीन आगमों में है।

प्रज्ञापना और जीवाजीवाभिगम आदि आगमों में विद्युत् को अग्नि माना गया है और उसे अग्निकायिक जीवों में परिगणित कर सचिन्त भी करार दिया गया है। मालूम होता है यह मान्यता प्रज्ञापना आदि किसी एक आगम में उल्लिखित हुई है और उसी को दूसरे आगमों ने दुहरा दिया है, क्योंकि उक्त वर्णन की शैली तथा शब्दावली प्रायः एक जैसी ही है। जैनाचार्य भी आखिर छद्मस्थ थे, सर्वज्ञ तो थे नहीं, अतः उन्होंने विद्युत् को सुदूर बादलों में चमकते देखा और उसे लोक धारणाओं के अनुसार अग्नि मान लिया। लोक-मान्यताओं का जैनाचार्यों पर काफी प्रभाव पड़ा है। इस सम्बन्ध में आगमों के अनेक वर्णन उपस्थित किए जा सकते हैं। यहाँ विवेच्य विद्युत् है, अतः हम इसी की चर्चा करना चाहते हैं, शेष किसी अन्य प्रसंग के लिए रख छोड़ते हैं।

जिस प्रकार पुराकालीन जनता विद्युत् को दैवी प्रकोप मानती थी, जिसका उल्लेख हम पहले कर आए हैं, जैनाचार्य भी उसी प्रकार विद्युत् को दैवी प्रकोप मानते रहे हैं। वर्षाकाल को छोड़कर अन्य समय में जो वर्षा होती है, उसमें बिजली चमकती है और गरज होती है, तो आगमों का स्वाध्याय कितने ही पहर तक छोड़ दिया जाता है। बिजली चमकी या गर्जन हुआ कि बस तत्काल स्वाध्याय जैसा तप क्यों छोड़ दिया जाता है? स्पष्ट ही है कि जैनाचार्य भी विद्युत् आदि को दैवी प्रकोप मानने के भ्रम में थे। यदि विद्युत् को साधारण अग्नि की चमक ही मानते होते तो ऐसा करने की जरूरत नहीं थी। धरती पर कितनी ही आग सुलगती रहती हैं, पर स्वाध्याय कहाँ बन्द होता है? असज्जाय कहाँ मानी जाती है? इसका अर्थ यह है कि जैनाचार्य लोक-धारणाओं के अनुसार भी बहुत सी बातें कहते रहते हैं, जो आज तर्कसिद्ध सत्य की कसौटी पर खरी नहीं उतरती हैं। विद्युत् को अग्नि मानने की धारणा भी लोकविश्वास पर ही बना ली गई, ऐसा मालूम होता है। यह बात आगमों की दूसरी मान्यताओं से भी सिद्ध हो जाती है।

आगमों में दस प्रकार के भवनपति देवों का वर्णन आता है। वहाँ अग्निकुमार एक देव जाति है, तो विद्युत् कुमार उससे भिन्न एक दूसरी ही जाति है। ये देवजातियाँ प्रकृति के कुछ तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करती हैं और अपने नाम के अनुसार काम भी करती हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भगवान् ऋषभदेव के दाह-संस्कार का वर्णन है, प्रथम अग्निकुमार अग्नि प्रज्वलित करते हैं और फिर वायुकुमार वायु के

ध्वनिवर्धक का प्रश्न हल क्यों नहीं होता? क्या विद्युत् अग्नि है? : ९

द्वारा उसे दहकाते हैं। अन्यत्र भी जहाँ कहीं देवों द्वारा अग्नि का कार्य आया है, अग्नि कुमारों द्वारा ही निष्पन्न होने का उल्लेख है। प्रश्न है, यदि विद्युत् अग्नि है तो फिर, यह कार्य विद्युत् कुमारों के द्वारा क्यों नहीं कराया गया? और यदि विद्युत् सचमुच में अग्नि ही है तो एक अग्नि कुमार देव ही काफी हैं, अलग से विद्युत् कुमार को मानने की क्या आवश्यकता है? अग्नि कुमारों के मुकुट का चिह्न पूर्ण कलश बताया है, और विद्युत् कुमारों का वज्र^{१०}। ये दोनों चिह्न अलग क्यों हैं, जबकि वे दोनों ही अग्नि देव हैं^{११}। विद्युत् कुमारों का वज्र का चिह्न वस्तुतः उस लोकमान्यता की स्मृति करा देता है, जो विद्युत् को इन्द्र का वज्र मानती रही है। उक्त विवेचन से यह मालूम हो जाता है कि उक्त सूत्रकार विद्युत् को अग्नि नहीं मानते थे, अग्नि से भिन्न कोई अन्य ही दिव्य वस्तु उनकी कल्पना में थी।

विद्युत् का मूल अर्थ है—‘चमकना’। आकाश में बादल छाये और उनमें एक चमक देखी, और उसे विद्युत् कहा जाने लगा। विद्युत् के जितने भी पर्यायवाची शब्द हैं, उनमें कोई भी एक ऐसा शब्द नहीं है, जो अग्नि का वाचक हो, और अग्नि के जितने भी पर्यायवाची शब्द हैं, उनमें एक भी ऐसा शब्द नहीं, जो विद्युत् का वाचक हो। अतः स्पष्टतः सिद्ध है कि अग्नि और विद्युत् दो भिन्न वस्तुएं हैं।

अग्नि और विद्युत् के गुणधर्म एक नहीं हैं

पदार्थों का अपना अस्तित्व अपने गुणधर्मों के अनुसार होता है। इस कसौटी पर जब उसे हम कसते हैं तो अग्नि और विद्युत् के गुण-धर्म एक सिद्ध नहीं होते। अग्नि और जल परस्पर विरोधी हैं। जल में अग्नि नहीं रह सकती है। जल तो अग्नि का परकाय शस्त्र है^{१२}। अतः वह उसे बुझा देता है, प्रदीप्त नहीं करता। और विद्युत् बादलों में प्रत्यक्षतः ही जल में रहती है और इसीलिए अत्रंभट्ट जैसे दार्शनिक उसे अबिन्धन कहते हैं, अर्थात् जल को बिजली का ईंधन बताते हैं। यहाँ धरती पर भी पानी विद्युत् का चालक है। जल में तथा जल से भीगी हुई वस्तुओं में विद्युत् धारा अच्छी तरह प्रवहमान हो जाती है। अतः सिद्ध है कि विद्युत् अग्नि नहीं है। यहाँ अग्नि और विद्युत् जैन धारणा के अनुसार भी दो विपरीत केन्द्रों पर स्थित हैं।

जैनाचार्य वनस्पति का परकाय शस्त्र अग्नि को मानते हैं^{१३} और यह प्रत्यक्षसिद्ध भी है। काष्ठ को अग्नि भस्म कर डालती है^{१४}। परन्तु विद्युत् का स्वभाव अग्नि के उक्त स्वाभाव से भिन्न है। काष्ठ (सूखी लकड़ी) विद्युत् चालक नहीं है। लकड़ी पर खड़े होकर विद्युत् के तार को यदि हम छूते हैं तो विद्युत् का प्रभाव स्पर्शकर्ता पर नहीं पड़ता है। लकड़ी में विद्युत् धारा नहीं आ सकती है।

यह बात आज सर्वसाधारण लोगों में प्रत्यक्षसिद्ध है। यदि विद्युत् अग्नि होती तो वह काष्ठ पर अवश्य अपना प्रभाव डालती।

अग्नि को जलने के लिए आक्सीजन (प्राणवायु) आवश्यक है। यदि आक्सीजन न रहे तो अग्नि प्रज्वलन क्षमता समाप्त हो जाएगी। जलती हुई मोमबत्ती को काँच के गिलास या बेलजार आदि से ढँक दें तो कुछ समय पश्चात् मोमबत्ती बुझने लगेगी और उसका प्रकाश कम जो जाएगा। जब मोमबत्ती बुझने लगे, और उसी समय यदि बेलजार आदि के ढक्कन को थोड़ा सा ऊपर उठा दिया जाए तो मोमबत्ती पुनः जलने लगेगी। बुझती हुई मोमबत्ती, बेलजार आदि के उठाने पर इसलिए जलने लगती है कि बेलजार में बाहर से आक्सीजन अन्दर चली जाती है। फलतः पहले की आक्सीजन खत्म होने पर भी नई आक्सीजन मिलते ही वह प्रज्वलन पुनः सक्रिय हो जाता है। यदि बेलजार के ढक्कन को न उठाया जाए तो आक्सीजन समाप्त होते ही मोमबत्ती अवश्य बुझ जाएगी। यह प्रयोग विज्ञान के छात्रों को प्रत्यक्ष में करके दिखाया जाता है और अग्नि प्रज्वलन के लिए आक्सीजन गैस की आवश्यकता प्रमाणित की जाती है। जैन आगम भी अग्नि को जलने के लिए वायु का होना आवश्यक मानते हैं^{१५}।

विद्युत् की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। बिजली का बल्ब वैक्यूम (Vacuum) होता है, उसमें से आक्सीजन आदि वायुतत्त्व पूर्ण रूप से निकाल दिया जाता है। अतः विद्युत् आक्सीजन के बिना प्रकाश देती है। यदि बल्ब में कुछ गड़बड़ हो जाए, वैक्यूम की स्थिति न रहे तो तत्काल ही वह फ्यूज हो जाता है, फिर वह प्रकाशमान नहीं रहता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि अग्नि और विद्युत् परस्पर भिन्न हैं।

हर उष्णता और चमक अग्नि नहीं है

साधारण जनता बाहर की दो-चार बातें एक जैसी देखकर भिन्न वस्तुओं में भी एकत्व की धारणा बना लेती है। हर पीले रंग की चीज सोना है, बस पीतल भी सोना बन जाता है। भारतीय लोककथा के वे बन्दर प्रसिद्ध हैं, जो सर्दी से बचने के लिए गुंजाओं (चिरमिठी) को लाल रंग के कारण अग्नि समझ बैठे थे, और उनको ताप रहे थे। विद्युत् में उष्णता है, प्रकाश है, चमक है, तो बस वह अग्नि है—यह मान्यता ऊपर की लोककथा का स्मरण करा देती है।

यदि केवल चमक ही अग्नि का लक्षण है, तो रात में जुगनू भी चमकता है, चाँद के धरातल से पृथ्वी भी चमकती है, तो क्या ये सब अग्नि माने जाएँ? जीवाजीवाभिगम और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में वर्णित कल्पवृक्षों की एक जाति चमकती है, प्रकाश विकीर्ण करती है, तो क्या उसे भी अग्नि मान लें? उत्तराध्ययन (१९/

ध्वनिवर्धक का प्रश्न हल क्यों नहीं होता? क्या विद्युत अग्नि है? : ११

४७) में नरक की उष्ण वेदना का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यहाँ धरती की प्रचण्ड अग्नि से वह नरक भूमि की उष्णता अनन्तगुना है, तो वह पृथ्वी भी अग्नि है क्या? हमारा शरीर भी उष्ण रहता है, बुखार में तो ताप कई गुना बढ़ जाता है, तो क्या यह सब अग्नि का काम है? उदरस्थ भोजन पचता है, इसके लिए जठराग्नि की कल्पना की गई है, तो क्या वस्तुतः जैन परम्परा भी पेट में अग्नि काया मानती है? समुद्र का तथाकथित बड़वानल क्या वस्तुतः अनल अर्थात् अग्नि है, या केवल एक ताप है? उक्त वर्णनों को विवेचक-बुद्धि से पढ़ते हैं, तो पता लगता है कि वस्तुतः लोकमान्यता क्या है? और इसके विपरीत सही वस्तुस्थिति क्या है?

जैन आगमों के अनुसार अग्निकाय अर्द्धाई द्वीप समुद्र पर्यन्त मनुष्य क्षेत्र तक ही सीमित है^{५५}। मनुष्य क्षेत्र के सिवा अन्यत्र कहीं अग्नि नहीं होती है। परन्तु राजप्रशनीय के सूर्याभदेवाधिकार में स्वर्ग में भी धूप दान का वर्णन है। वह क्या है? स्वर्ग में तो अग्नि नहीं है। भगवतीसूत्र (३/१/१३६) में ईशानेन्द्र का वर्णन है। उसने दूसरे देवलोक से ज्यों ही पाताललोकान्तर्गत बलिचंचा राजधानी को देखा, वह जलते अंगारों के समान दहकने लगी, भस्म होने लगी। क्या ईशानेन्द्र की आँखों में वस्तुतः अग्नि थी? पहले सौधर्मेन्द्र ने जब चमरेन्द्र पर अपना वज्र छोड़ा तो उसमें से हजारों-हजार ज्वालाएँ निकलने लगीं और वह वज्र अग्नि से भी अधिक प्रदीप्त हो गया^{५६}। क्या यह सब भी अग्नि है? स्वर्ग में अग्नि के अस्तित्व का निषेध है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह अग्नि नहीं, कुछ और ही चीज है। नरक में भी आग जलती हुई बताई गयी है, जबकि वहाँ शास्त्रानुसार आग होती ही नहीं है।

अग्नि ही नहीं, अन्य अचित्त पुद्गल भी उष्ण होते हैं और प्रकाश आदि की क्रियाएँ करते हैं। भगवतीसूत्र में गौतम का प्रश्न है कि भगवन्! क्या अचित्त जड़ पुद्गल भी चमकते हैं, तपते हैं और आसपास में प्रकाश करते हैं? भगवान् ने उत्तर स्वीकृति में दिया है, अचित्त पुद्गलों को प्रकाशक माना है।

‘अचित्ता वि पोगला ओभासंति उज्जोवेंति, तवेंति, पभासंति? हंता अत्थि।’
(भग. ७/१०/३०७)

अरंडी या ऊन का वस्त्र भी विद्युत् विसर्जन की क्रिया करता है। सर्दियों में रात के समय जब अरंडी या ऊन के वस्त्र को झटकते हैं तो उसमें से इधर-उधर चिनगारियाँ चमकती दिखाई देती हैं, स्फुल्लिंग उड़ते नजर आते हैं, चर्च-चर्च की ध्वनि भी होती है। प्रश्न है, यह सब क्या है? क्या सचमुच में यह अग्नि है? यह अग्नि नहीं है। सब विद्युत् का तमाशा है, और कुछ नहीं। टैरिलिन के

कपड़े में भी विद्युत् आ जाती है। टैरेलिन पहनने वाले जानते हैं—विद्युत् के कारण शरीर पर के बाल कैसे तनकर खड़े हो जाते हैं, और टैरेलिन में से चमक भी खूब निकलती है। पर वह अग्नि नहीं विद्युत् है।

विद्युत् से अग्नि तो लग जाती है न?

कितने ही महानुभाव तर्क करते हैं कि बिजली से अग्नि तो लग जाती है। बिजली से आग लगने की अनेक घटनाएँ होती देखी गई हैं। उत्तर में कहना है कि बिजली से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, और वस्तु जल जाती है, यह बात सत्य है। परन्तु बिजली और बिजली से प्रज्वलित अग्नि, दोनों में अन्तर है। बिजली से आग भले ही लग जाए, पर बिजली स्वयं अग्नि नहीं है।

अग्नि का क्या है? वह तो सूर्य के किरणों से भी लग जाती है। सूर्यकिरणों को जब अभिबिन्दु लेंस (Convergent Lens) में केन्द्रित कर लेते हैं, तो उसमें से अग्नि ज्वाला फूट पड़ती है। परन्तु सूर्यकिरणों स्वयं तो अग्नि नहीं हैं। यदि वे अग्नि हों तो फिर सूरज की धूप में संयमी मुनि कैसे खड़ा हो सकता है, कैसे धूप सेंक सकता है?

‘तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरसिं करेइ’।

(भग. १५वाँ शतक)

तारपीन या पेट्रोल आदि के भीगे कपड़े यथाप्रसंग अपने आप जलने लगते हैं। खुली हवा में रहने के कारण ऐसी वस्तुएँ पहले हवा का ऑक्सीजन से संयोग कराती हैं और उससे धीरे-धीरे ताप उत्पन्न होता रहता है। जब ताप बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाता है कि वह वस्तु के प्रदीपनांक (Ignition temperature) से अधिक हो जाता है, तब वस्तु स्वतः ही तेजी से जलने लगती है। तारपीन या पेट्रोल आदि में आग पकड़ने की यही विज्ञानसिद्ध प्रक्रिया है। परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि तारपीन तथा पेट्रोल आदि स्वयं अग्नि हैं।

अरणी की लकड़ी या बाँस परस्पर घर्षण से जलने लगते हैं, तो क्या वे जलने से पूर्व भी साक्षात् अग्नि हैं? यदि हैं तो उन्हें फिर साधु कैसे छू सकते हैं?

दो चार क्या, अनेक उदाहरण इस सम्बन्ध में दिए जा सकते हैं, जो प्रमाणित करते हैं कि बिजली से आग लग जाने पर भी बिजली स्वयं अग्नि नहीं है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि विद्युत् अग्नि नहीं है। वह हमारी कल्पनाओं से भिन्न एक सर्वथा विलक्षण शक्ति विशेष है। विद्युत् तो हमारे शरीरों में भी है। हम उससे कहाँ तक बचेंगे? रूस के वैज्ञानिकों ने

ध्वनिवर्धक का प्रश्न हल क्यों नहीं होता? क्या विद्युत अग्नि है? : १३

तो एक ऐसा यन्त्र तैयार किया है, जो दिन भर मानव शरीर में लगा रहता है। वह दिन में शरीर की हलचल से पैदा होने वाली विद्युत् को अपने में इतना संगृहीत कर लेता है, जिससे रात भर प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है।

दैनिक हिन्दुस्तान के १२ अक्टूबर १९६९ के अंक में लिखा है कि दक्षिण-पूर्व अमेरिका की नदियों में पायी जाने वाली 'ईल' नामक मछली डेढ़ सौ अश्वशक्ति का विद्युत्-सामर्थ्य रखती है, जिसके द्वारा साठ वाट के सैकड़ों बल्ब जलाये जा सकते हैं। इस प्रकार अद्भुत विद्युत् शक्ति के धारक अन्य भी अनेक प्राणी हैं—पशु हैं, पक्षी हैं। सूरज की धूप में भी विद्युत् शक्ति है, और उस धूप द्वारा संगृहीत विद्युत् से तो पश्चिम के देशों में कितने ही कल-कारखानें चलते हैं।

स्विच ऑन होते ही एक सेकंड में बिजली का प्रकाश जगमगाने लगता है, और स्विच ऑफ होते ही एक क्षण में प्रकाश गायब हो जाता है। एक सेकंड में विद्युत् धारा हजारों ही नहीं, लाखों मील लम्बी यात्रा कर लेती है। क्या यह सब अग्नि का गुण धर्म एवं चमत्कार हो सकता है?

आज का युग कहने का नहीं, प्रत्यक्ष में कुछ करके दिखाने का युग है। विद्युत् अग्नि है, कहते जाइए। कहने से क्या होता है! विज्ञान ने तो अग्नि और विद्युत् का अन्तर स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष में सिद्ध करके दिखा दिया है। पुराने युग के कुछ आचार्यों ने यदि विद्युत् की गणना अग्निकाय में की है, तो इससे क्या हो जाता है? उनका अपना एक युगानुसारी चिन्तन था, उनकी कुछ अपनी प्रचलित लोकधारणाएँ थीं। वे कोई प्रत्यक्ष सिद्ध वैज्ञानिक मान्यताएँ नहीं थीं। राजप्रशनीय सूत्र में वायु को भारहीन माना गया है तथा बताया गया है कि हवा में वजन नहीं होता है। जबकि हवा में वजन होता है, और यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। अन्य जैन आगमों से भी वायु में गुरुत्व सिद्ध है। अतः मानना होगा कि राजप्रशनीयकार या केशीकुमार श्रमण केवल लोक प्रचलित मान्यता का उल्लेख मात्र कर रहे हैं, सैद्धान्तिक पक्ष का प्रतिपादन नहीं। चन्द्र, सूर्य आदि के सम्बन्ध में भी उनकी यही स्थिति है। वही बात विद्युत् को अग्नि मानने के सम्बन्ध में भी है, जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है तथा अन्य आगमों से भी सिद्ध नहीं है।

मैं आशा करता हूँ, विद्वान् मुनिराज तटस्थ भाव से उक्त चर्चा का विश्लेषण करेंगे, और विद्युत् को अग्नि मान लेने के कारण ध्वनिवर्धक का जो प्रपंच समाज में चर्चा का विषय बन गया है, इसका उचित निराकरण करेंगे। प्रवचन सभा में हजारों की भीड़ हो जाती है, सुनाई कुछ देता नहीं है। शोरगुल होता है, आकुलता बढ़ती है जनता के मन खिन्न हो जाते हैं। यह कितनी बड़ी मानसिक हिंसा है। प्रस्तुत प्रसंग में इस पर भी विचार करना आवश्यक है।

*

जैनधर्म में धार्मिक-सहिष्णुता की स्थापना के मूल आधार

डॉ. राजेन्द्र जैन*

धर्म का वास्तविक स्वरूप

मानव-समाज में धार्मिक-मतान्धता एवं असहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण के विकसित होने के जो भी प्रमुख कारण रहे हैं, उनमें धर्म के वास्तविक स्वरूप एवं उसके मूलभूत उद्देश्य के बारे में लोगों में सम्यक् समझ की कमी प्राथमिक कारण है। धर्म से सामान्यतया हमारा आशय, हमारे धार्मिक-ग्रन्थों में वर्णित कुछ अलौकिक शक्तियों के प्रति अंधश्रद्धा और धार्मिक-अनुष्ठानों या विधि-विधानों का निष्पादन करने मात्र से ही है, परन्तु यह धर्म का वास्तविक स्वरूप एवं पूर्ण उद्देश्य नहीं है। समदर्शी आचार्य हरिभद्र ने उनके द्वारा रचित 'संबोध-प्रकरण' (१/१) नामक ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से कहा है कि लोग धर्म-मार्ग के बारे में बात तो करते हैं, परन्तु वे यह नहीं जानते कि सही अर्थ में धर्म क्या है। प्रसिद्ध जैनग्रन्थ 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' (४७८) में धर्म को 'वस्तु के मूल स्वभाव' के रूप में परिभाषित किया गया है। यदि ऐसा है, तो प्रश्न उठता है कि मनुष्य का मूल स्वभाव क्या है? प्रसिद्ध जैनग्रन्थ भगवतीसूत्र (१/९) में स्पष्ट रूप से उल्लेखित किया गया है कि समत्वभाव में रहना ही आत्मा का मूल स्वभाव है तथा उसको उपलब्ध करना ही उसका अन्तिम लक्ष्य है। भगवान् महावीर ने धर्म की दो परिभाषाएँ दी हैं। आचारांगसूत्र (१/८/४) में वे कहते हैं—'सन्त महापुरुष प्रतिपादित करते हैं कि धर्म व्यक्ति की मानसिक-समभाव अवस्था है।' समत्वभाव को धर्म का मूल या सारतत्त्व माना गया है, क्योंकि यही सम्पूर्ण प्राणी-जगत्, जिसमें मनवजाति भी सम्मिलित है, का मूलभूत स्वभाव है। समत्वभाव वह स्थिति है जिसमें कि चेतना आवेगों, संवेगों तथा भावनात्मक-विकारों से पूर्णतया मुक्त रहती है और मन के विकल्प शान्त हो जाते हैं। यही धर्म का मूल है, उसका वास्तविक स्वरूप है। हरिभद्र कहते हैं के कोई व्यक्ति दिगम्बर है या श्वेताम्बर या बौद्ध या किसी अन्य धर्म का मानने वाला है, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः जो कोई भी समत्वभाव को आत्मसात करेगा, वह

* प्रो. एवं अध्यक्ष, कामर्स विभाग, बालकृष्ण शर्मा नवीन शासकीय महाविद्यालय, शाजापुर (म.प्र.)

मुक्ति को उपलब्ध होगा। (संबोधप्रकरण, १/२)

इस प्रकार मन की समत्वभाव-अवस्था को प्राप्त करना या तनावों से मुक्त होना ही सभी धर्मों का सारतत्त्व है। इसके अतिरिक्त, जब हम धर्म के व्यावहारिक या सामाजिक-पहलू की बात करते हैं, तो इसका आशय आचरण में अहिंसा का पालन करने के अलावा कुछ भी नहीं है। आचारांग (१/४/१) में भगवान् महावीर कहते हैं-

‘भूतकाल में जो तीर्थंकर भगवान् हो गए हैं, वर्तमान में जो तीर्थंकर हैं और भविष्य में जो तीर्थंकर होंगे वे सब इस प्रकार से कहते हैं, बोलते हैं, समझाते हैं और प्ररूपणा करते हैं कि सभी प्राणी (द्वीन्द्रियादि), सभी भूत (वनस्पति), सभी जीव (पंचेन्द्रिय) और सभी सत्तों (पृथ्वीकायादि) को दण्डादि से नहीं मारना चाहिए, उन पर आज्ञा नहीं चलानी चाहिए, उन्हें दास की भाँति अधिकार में नहीं रखना चाहिए, उन्हें शारीरिक व मानसिक सन्ताप नहीं देना चाहिए और उन्हें प्राणों से रहित नहीं करना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है।’

आचार्य हरिभद्र स्पष्ट रूप से कहते हैं कि धार्मिक-अनुष्ठान, विधि-विधान, कर्मकाण्ड आदि का निष्पादन करना धर्म का केवल बाहरी रूप है। अपने मूल स्वरूप में धर्म मनुष्य के अन्दर रहे हुए मनोविकारों के उपशमन एवं भौतिक-सुखों के प्रति उसकी उद्दाम लालसा को नियन्त्रित करने का उपाय है, साथ ही वह व्यक्ति को उसके आत्मस्वरूप का बोध कराने का साधन भी है। इस प्रकार जैनाचार्यों की दृष्टि में धर्म का वास्तविक स्वरूप एवं उसका मौलिक उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक-जीवन में समत्वभाव एवं शान्ति की स्थिति को सुनिश्चित करना है। जो कुछ भी चैतसिक समत्व और सामाजिक शान्ति को भंग करता है तथा विद्वेष एवं हिंसा फैलाता है, वह धर्म का सच्चा स्वरूप नहीं है, अपितु वह तो धर्म का लबादा ओढ़े हुए शैतान है। आजकल तो धर्म की मूल भावना पीछे छूट गई है और मताग्रह, अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड आदि का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व बढ़ गया है। इस प्रकार धर्म के साध्य को तो हम भुला चुके हैं और उसे केवल साधन के रूप में हमने अपने से चिपका लिया है। प्रार्थना करते समय हमारे लिए आज यह बात अधिक महत्त्व रखती है कि हमारा मुख पूर्व दिशा में होना चाहिए या पश्चिम में, क्योंकि हम प्रार्थना के मूल ध्येय को ही भुला चुके हैं। धर्म का उद्देश्य मनोविकारों पर नियन्त्रण करना है, परन्तु दुर्भाग्य से धर्म के नाम पर हम हमारे मनोविकारों का पोषण कर रहे हैं। वस्तुतः धर्म के बाह्य स्वरूप या उसके शरीर की सजावट के लिए तो हम

झगड़ रहे हैं, परन्तु उसकी आत्मा की चिन्ता नहीं कर रहे हैं। यदि हम धार्मिक-सहिष्णुता को बनाए रखना चाहते हैं और इस पृथ्वी पर शान्ति सुनिश्चित करना चाहते हैं, तो धर्म के बाह्य रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, आडम्बर, विधि-विधान आदि को सम्पन्न करने के स्थान पर हमें धर्म के सारतत्त्व एवं मूलभूत साध्य के प्रति सदैव जागरूक रहना चाहिए।

धर्म के अंग्रेजी पर्याय Religion का अर्थ है -पुनः जोड़ना। इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के आधार पर हम कह सकते हैं कि जो कुछ भी मानवजाति को जोड़ने के स्थान पर तोड़ना है, वह कभी भी धर्म का सच्चा स्वरूप नहीं हो सकता। हमें इस तथ्य से अवगत होना चाहिए कि धर्म अपने मूल स्वरूप में कभी भी हिंसा, असहिष्णुता, मताग्रहपूर्ण नजरिए का समर्थन नहीं करता है। धर्म का वास्तविक स्वरूप तो वह है जो कि मानव-समाज में विद्वेष के स्थान पर सहिष्णुता और घृणा के स्थान पर परस्पर स्नेह एवं उदारता की भावना का विकास करता है।

अन्धविश्वास ही असहिष्णुता का बीज

धर्मोन्माद और असहिष्णुता फैलाने वाले कारणों में अन्धविश्वास प्रमुख है। यह मिथ्यात्वमोह का परिणाम है, अतः धर्म के प्रति यह अविवेकपूर्ण दृष्टिकोण है। जैनाचार्यों के अनुसार मोह (मूर्च्छा) बंधन का प्रधान कारण है। यही विपर्यस्तबुद्धि का भी कारण है। जैनधर्म में मोह के विभिन्न प्रकार बताए गए हैं उनमें दर्शन-मोह या दृष्टिराग (अन्धविश्वास) अपनी प्रकृति के अनुसार सर्वोपरि है। यह धार्मिक-असहिष्णुता का केन्द्रीय तत्त्व है। इसके कारण व्यक्ति अपनी धार्मिक मान्यताओं और आस्थाओं को ही एकमात्र सत्य समझता है और अपने विरोधी मान्यताओं और विश्वासों को असत्य मानता है। इस प्रकार मोह या रागभाव जहाँ एक ओर व्यक्ति को किसी से जोड़ता है, वहीं दूसरी ओर वह उसे कहीं से तोड़ता भी है, इसलिए वीतरागता सम्यक् दृष्टिकोण की सर्वप्रथम शर्त है। दुराग्रहपूर्ण मनोवृत्ति के कारण व्यक्ति वस्तु के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में सम्यक् विचार करने में ठीक उसी प्रकार असमर्थ हो जाता है, जिस प्रकार पीलिया की बीमारी से ग्रस्त कोई व्यक्ति या अपनी आँखों पर रंगीन चश्मा चढ़ाए हुए व्यक्ति वस्तुओं का सही रंग देखने में असमर्थ हो जाता है। वस्तुतः दार्शनिक-चिन्तन के क्षेत्र में राग और द्वेष-दो बहुत बड़े शत्रु हैं। सत्य तो वीतरागदृष्टि से ही प्रकट हो सकता है। जैनाचार्य दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि वीतरागभाव न केवल व्यक्ति का सहज स्वभाव है, बल्कि सत्य की खोज में यह परमावश्यक भी है। एक

निष्पक्ष और पूर्वाग्रह से रहित व्यक्ति ही अपने विरोधियों की विचारधारा एवं धर्म में निहित सत्यांशों को समझ सकता है और इसी प्रकार से उन्हें भी चिन्तन करने के लिए प्रेरित कर अपनी विचारधारा और धर्म को निन्दित होने से बचा सकता है। धार्मिक नेताओं, मताग्रहों, धार्मिक-सिद्धान्तों और कर्मकाण्ड के प्रति रागात्मक-दृष्टि व्यक्ति में अन्धविश्वास का कारण बनती है। परिणामतः समाज में धार्मिक-असहिष्णुता और धर्मोन्माद का वातावरण निर्मित होता है। जो धर्म व्यक्ति को विवेकशील होने के बजाए उसके प्रति केवल श्रद्धालु होने पर अधिक जोर देता है, वह धर्म संकीर्ण और रूढ़िवादी होता है। इसी प्रकार से जो धर्म व्यक्ति को विवेकपूर्वक विश्वास करने के लिए प्रेरित करता है, वह दूसरे धर्मों के प्रति अधिक सहिष्णु एवं मैत्रीभाव रखने वाला होता है। धार्मिक आस्थाओं, कर्मकाण्ड आदि के प्रति श्रद्धा करने के सन्दर्भ में विवेकबुद्धि या विश्लेषणात्मक तर्कपूर्ण नजरिया व्यक्ति के लिए एक नियन्त्रक तत्त्व का काम करता है।

जैनधर्म कहता है कि एक सत्यान्वेषी या वीतरागता को पाने के अभिलाषी के लिए अपने धर्मगुरु, धर्मग्रन्थों और साधना-मार्ग के प्रति राग-भाव रखना भी उसके आध्यात्मिक-विकास के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। वस्तुतः, रागात्मकता अन्धविश्वास पैदा करती है और अन्धविश्वास से घृणा, असहिष्णुतापूर्ण आचरण की उत्पत्ति होती है।

जैनाचार्यों के अनुसार रागात्मकता ही वास्तविक बंधन है, इसलिए यदि कोई व्यक्ति रागवृत्ति की गिरफ्त में है, तो वह कभी भी मुक्ति को उपलब्ध नहीं हो सकता है। भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य और गणधर इन्द्रभूति गौतम को जब तक भगवान् महावीर जीवित रहे, कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकी, वे वीतरागता को उपलब्ध नहीं कर पाए। न केवल जैन-परम्परा में, अपितु बौद्ध-परम्परा में भी भगवान् बुद्ध के अन्तेवासी शिष्य आनन्द भी बुद्ध के जीवनकाल में अर्हत्-अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाए। एक बार गणधर गौतम ने महावीर से पूछा-‘हे भगवन्! ऐसा कौन सा कारण है, जो मेरी सर्वज्ञता या वीतरागता की प्राप्ति में बाधक बन रहा है?’ महावीर ने उत्तर दिया-‘हे गौतम! तुम्हारा मेरे प्रति जो रागभाव है, वही तुम्हारी सर्वज्ञता और वीतरागता में बाधक है।’ इसी प्रकार बुद्ध के प्रति आनन्द का जो रागभाव था, वही उनके अर्हत् बनने में बाधक रहा, इसलिए जैनाचार्य व्यक्ति को रागात्मकता से ऊपर उठ जाने पर जोर डालते हैं, क्योंकि यही पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण और असहिष्णुतापूर्ण आचरण का मूल कारण है।

प्रज्ञा-अन्धश्रद्धा का नियन्त्रक तत्त्व

जैनधर्म के त्रिरत्नों में से प्रथम सम्यक्दर्शन अर्थात् सम्यक्श्रद्धा की आत्मा की मुक्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, किन्तु इसके विपरीत अन्धश्रद्धा असहिष्णुता की जननी है, इसलिए जैनधर्म कभी भी अन्धश्रद्धा का समर्थन नहीं करता है। जैनाचार्य निश्चयात्मकतापूर्वक कहते हैं कि सम्यक्ज्ञान से ही सम्यक्दर्शन (श्रद्धा) होगा। सम्यक्दर्शन (श्रद्धा) सम्यक्ज्ञान (विवेक/प्रज्ञा) का अनुगामी होना चाहिए। जैनाचार्यों के अनुसार विवेक और श्रद्धा-दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनों के बीच कोई विवाद नहीं है। जैनाचार्य इस बात को दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि विवेकरहित श्रद्धा अन्धी होती है और सम्यक्दर्शन (श्रद्धा/विश्वास/आस्था) का विकास सम्यक्ज्ञान (विवेक बुद्धि/प्रज्ञा) के बिना सम्भव नहीं है। सम्यक्ज्ञान और सम्यक्दर्शन में समन्वय होना चाहिए। वे कहते हैं कि धार्मिक-आचार के नियमों का प्रज्ञापूर्वक समीक्षा एवं मूल्यांकन किया जाना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम पार्श्वनाथ की परम्परा के तत्कालीन प्रमुख आचार्य केशी के समक्ष अपने इस विचार को दृढ़तापूर्वक रखते हैं कि दोनों की संघ-व्यवस्था में (परम्परा में) आचार के बाह्य निषेधों में जो अन्तर है, उसका तर्क या विवेक के आधार पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए। वस्तुतः, विवेकबुद्धि के आधार पर ही विधि-निषेधों या धार्मिक-आचार के नियमों की सत्यता का सम्यक् मूल्यांकन हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि धर्म केवल श्रद्धा या विश्वास या आस्था पर आधारित है और विवेक का इसमें कोई स्थान नहीं है, तो निश्चित तौर पर वह एक ऐसा एकांगी दृष्टिकोण अपना रहा है, जो यह मानकर चलता है कि केवल उसका धर्म, धर्मग्रन्थ, धर्मगुरु और साधना-पद्धति ही सत्य हैं तथा अन्य धर्म, धर्मग्रन्थ, धर्मगुरु और साधना-पद्धति मिथ्या हैं। वह यह भी दृढ़विश्वास करता है कि केवल उसका धर्म ही मानवजाति को संकट से उबार कर विश्व-शान्ति सुनिश्चित कर सकता है और केवल उसका साधना-मार्ग ही परम श्रेय का अनुभव कराने वाला एकमात्र विकल्प है तथा उसके धर्मग्रन्थों में वर्णित नियम ही समीचीन हैं, किन्तु ऐसा व्यक्ति अपने धार्मिक नियमों का तर्कबुद्धि/प्रज्ञा/विवेक के आधार पर मूल्यांकन करने में असमर्थ रहता है। इसके स्थान पर यदि कोई व्यक्ति निश्चयपूर्वक यह कहता है कि धार्मिक-जीवन में विवेक/प्रज्ञा/तर्कबुद्धि की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, तो वह निश्चित ही अपने धार्मिक नियमों/सिद्धान्तों या रीति-रिवाजों का विवेक बुद्धि से विश्लेषण या मूल्यांकन या समीक्षा कर तदनुसार आचरण करेगा।

एक रागी या आसक्त व्यक्ति इस कथन में विश्वास करता है कि 'जो मेरा है, केवल वही सत्य है'। ठीक इसके विपरीत एक अनासक्त या वीतरागी व्यक्ति इस कथन में विश्वास करता है कि 'जो सत्य है, वही मेरा है'।

क्रान्तिदर्शी आचार्य हरिभद्र (ईसा की आठवीं शताब्दी) रचित 'षड्दर्शनसमुच्चय' कृति पर अपनी टीका में आचार्य गुणरत्नसूरि (ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी पूर्व) ने कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जिनका आशय यह है कि 'राग-द्वेष से ग्रसित व्यक्ति पहले से ही जो कुछ उसकी मान्यता होती है, केवल उसे ही युक्तिसंगत प्रमाणित करने का प्रयास करने में लगा रहता है, जबकि वीतरागी या तटस्थ भाव रखने वाला व्यक्ति तार्किक-आधार पर जो सत्य होता है, उसे स्वीकार करता है। जैनधर्म प्रज्ञापूर्ण विचारणा का समर्थक है। धार्मिक-क्षेत्र में विवेकपूर्ण विचारणा का समर्थन करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं—'न तो महावीर के प्रति हमारा मोह है, न कपिल आदि ऋषियों के प्रति द्वेष। जिसकी भी बात युक्तिसंगत है, उसे हमें ग्रहण करना चाहिए।' इसी प्रकार से सम्यक्दर्शन (श्रद्धा) की व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र (ईसा की दसवीं शताब्दी) कहते हैं कि अन्धविश्वास से प्रेरित होकर देव, गुरु या धर्म पर श्रद्धा रखना मूढ़ता है^६। इस प्रकार जब धर्म विवेकाभिमुख है, तो वहाँ अन्धविश्वास या असहिष्णुता के लिए कोई स्थान नहीं होता है, अतः जो भी व्यक्ति या समाज धर्म के सम्बन्ध में विवेकपूर्ण दृष्टिकोण रखता है, वह निश्चित ही मताग्रही और असहिष्णु नहीं होगा।

अनेकान्तवाद-धार्मिक-सहिष्णुता का दार्शनिक-आधार

मतान्धता एवं धर्मान्धता निरपेक्षतावाद/एकान्तवाद की सन्ताने हैं। एक चरमपंथी या निरपेक्षतावादी समझता है कि जो कुछ वह प्रतिपादित करता है या कहता है, वही सत्य है और जो कुछ भी दूसरे कहते हैं, वह मिथ्या है, जबकि सापेक्षतावादी चिन्तक का दृष्टिकोण यह होता है कि यदि किसी वस्तु, विचार, घटना आदि के सम्बन्ध में दो भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में विचार किया जाए, तो वह और उसका प्रतिपक्षी-दोनों ही सही हो सकते हैं। इस प्रकार सापेक्षतावादी चिन्तक अन्य धर्मों और विचारधाराओं के प्रति सहिष्णु-दृष्टिकोण अपनाता है। जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर ही धार्मिक-सहिष्णुता की अवधारणा आधारित है। जैनाचार्यों की दृष्टि में अहिंसा ही धर्म का सार है और उसी से अनेकान्तवाद की अवधारणा उत्पन्न होती है। एकान्तवाद या निरपेक्षतावाद 'विचारों की हिंसा' का प्रतिनिधित्व करता है। वह अपने विरोधियों की विचारधारा और

जीवनमूल्यों का खण्डन करता है और इस प्रकार दूसरों की भावनाओं को चोट पहुँचाता है। अनेकान्तवाद विचारों की अहिंसापूर्वक सत्य की खोज करता है।

जैनाचार्यों की मान्यता है कि सत् या वस्तुतत्त्व अनेक विशेषताओं और गुणों का पुंज है। यह अनेक दृष्टियों से जाना जा सकता है और उसके सम्बन्ध में अनेक कथन प्रस्तुत किए जा सकते हैं। यहाँ तक कि किसी वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में दो विरोधाभासी वक्तव्य भी अपेक्षाभेद से सत्य हो सकते हैं। चूँकि हमारा ज्ञान सीमित है और सापेक्ष है, इसलिए हम सत् या वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में एक बार में कुछ ही पक्षों या पहलुओं को जान सकते हैं, अथवा अनुभव कर सकते हैं। सत् को उसके पूर्ण रूप में देख पाने में हम असमर्थ हैं। यहाँ तक कि एक सर्वज्ञ के लिए भी उसे अपेक्षा दृष्टि के बिना जान पाना या कह पाना असंभव है। इस बात को एक उदाहरण से समझा जा सकता है—कल्पना कीजिए कि अनेक व्यक्ति अपने-अपने कैमरों से विभिन्न कोणों से एक वृक्ष का चित्र लेते हैं। ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम तो हम यह देखेंगे कि एक ही वृक्ष के विभिन्न कोणों से विभिन्न व्यक्तियों द्वारा हजारों-हजार चित्र लिए जा सकते हैं। साथ ही इन हजारों-हजार चित्रों के बावजूद भी वृक्ष का बहुत-कुछ भाग ऐसा है, जो कैमरे की पकड़ से अछूता रह गया है। पुनः जो हजारों-हजार चित्र भिन्न-भिन्न कोणों से लिए गए हैं, वे एक-दूसरे से भिन्नता रखते हैं, यद्यपि वे सभी उसी वृक्ष के चित्र हैं। केवल उसी स्थिति में दो चित्र समान होंगे, जब उनका कोण या वह स्थल जहाँ से चित्र लिया गया है, एक ही हो। इस प्रकार उन चित्रों में अपूर्णता और भिन्नता—दोनों ही बातें हैं। यही विविधता मानवीय-ज्ञान और कथन के सम्बन्ध में भी है।

अतः सत् के सम्बन्ध में हम केवल आंशिक और सापेक्ष विचार ही रख सकते हैं। सापेक्ष-दृष्टिकोण के बिना सत्य को जानना और उसकी अभिव्यक्ति करना हमारे लिए असंभव है। यद्यपि प्रत्येक दृष्टिकोण या विचार वस्तुतत्त्व की सही तस्वीर प्रस्तुत करता है, परन्तु वह उसकी अपूर्ण और सापेक्ष-तस्वीर ही होती है। इस प्रकार हमारे आंशिक दृष्टिकोणों पर आधारित सापेक्ष-ज्ञान को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने से विरोधी मन्तव्यों को असत्य कहकर नकार दे। जैन-आचार्यों के अनुसार प्रतिपक्षों की विचारधारा के सत्यांशों को स्वीकार कर उनका भी हमें सम्मान करना चाहिए।

जैनाचार्यों का अनेकान्तवाद व्यक्ति को मतान्ध होने की अनुमति नहीं देता है और उसकी एकांगी सोच को भी निषिद्ध करता है। वह तो उदार दृष्टिकोण

और माध्यस्थ-भाव का समर्थन करता है। यही एकमात्र उपाय है, जिसके द्वारा धर्मों एवं विचारधाराओं में विविधता के कारण उत्पन्न संघर्षों को सुलझाया जा सकता है। सत्कारी मुखर्जी ने सही कहा था कि जैनाचार्य उस अतिवाद या एकांगी दृष्टिकोण में विश्वास नहीं करते हैं, जो निरपेक्षतावाद का प्रमुख तार्किक-आधार है। व्यावहारिक-दृष्टि से देखें, तो यह तार्किक-रवैया मतान्धता को जन्म देता है। यदि इसमें भी एक कदम और आगे बढ़ता है, तो यह धर्मान्धता फैलाता है, जो कि मानवीय-हृदय का सबसे निकृष्ट और घृणिततम भावावेग है^१। अनेकान्तवाद की दृष्टि में तो अपने से विरोधी का विचार भी सत्य होता है। जैसा कि सिद्धसेन दिवाकर (ईसा की पांचवीं शताब्दी) कहते हैं कि सभी सम्प्रदायों की विचारधारा अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य है, वे असत्य तभी होती हैं, जब वे अपने से विरोधी विचारधारा की सत्यता का निषेध करती हैं^२। हेमचन्द्र, जो कि एक जैन-आचार्य थे, उन्होंने शिव-स्तुति की भी रचना की थी। यही उदारता पश्चातवर्ती जैन-आचार्यों ने भी बरकरार रखी, जिसे आनंदधन और वर्तमान समय के कई आचार्यों ने अपने हिन्दी और गुजराती भाषाओं में रचित ग्रन्थों में प्रदर्शित किया है-

‘बुद्ध वीर जिन हरिहर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।

भक्ति भाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसी में लीन रहो।।’

मुक्ति का द्वार सबके लिए उद्घाटित

जैनधर्म यह मानता है कि जो भी व्यक्ति बन्धन के मूलभूत कारण राग-द्वेष को समाप्त कर सकेगा, वह मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। मुक्ति का द्वार तो सबके लिए खुला हुआ है। वे इस बात को नहीं मानते हैं कि केवल जैनधर्म को मानने वाला ही मोक्ष को उपलब्ध हो सकता है और दूसरे धर्मों के लोग मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र, जो कि जैन-परम्परा का एक प्राचीन आगम-ग्रन्थ है, उसमें ‘अन्य लिंगसिद्ध’ का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका तात्पर्य है कि जैनतर धर्मों और सम्प्रदायों से भी आत्मा मुक्ति को प्राप्त कर सकती है^३। जैन-आचार्यों के अनुसार मोक्ष को प्राप्त करने का केवल एक ही आधार है-राग और द्वेष का त्याग करना। आचार्य हरिभद्र स्पष्ट रूप से कहते हैं-‘जो भी समभाव की साधना करेगा, वह निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त कर सकेगा, फिर चाहे वह श्वेताम्बर हो, या दिगम्बर हो, या बौद्ध हो, या किसी अन्य धर्म का मानने वाला हो। जैनाचार्यों का यह उदार दृष्टिकोण ही उन्हें सब धर्मों के प्रति सहिष्णु बनाता है^४।

मुक्ति के उपायों के सम्बन्ध में भी जैनाचार्यों का दृष्टिकोण सदैव ही उदार रहा है। वे कभी भी यह नहीं मानते हैं कि केवल उनकी साधना-पद्धति या धार्मिक-साधना ही व्यक्ति को मुक्ति की मंजिल तक पहुँचाने का एकमात्र उपाय है। उनकी दृष्टि में बाह्य साधना नहीं, अपितु व्यक्ति की मनोवृत्ति वह तत्त्व है, जो धार्मिक-साधना/उपासना को फलदायी बनाती है। आचारांगसूत्र में उल्लेख किया गया है कि 'जो बन्धन के कारण हैं, वे ही मुक्ति के उपाय भी हो सकते हैं'^{१३} आचार्य हरिभद्र अपने ग्रन्थ उपदेशतरंगिणी में इसी बात को और अधिक स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि 'मुक्ति न तो सफेद वस्त्र पहनने से होती है, न दिगम्बर रहने से, तार्किक-वादविवाद और तत्त्वचर्चा से भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है, व्यक्तिविशेष की सेवा करने से भी मुक्ति संभव नहीं है। मुक्ति तो वस्तुतः कषायों, अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ से मुक्त होने में है'^{१४}।

यदि हम यह स्वीकार करें कि देश, काल और साधकों की रुचि एवं योग्यतागत विविधता के कारण विविध प्रकार की साधनाओं का अस्तित्व है और साथ ही धार्मिक-जीवन में आन्तरिक-पवित्रता (कषायमुक्ति) पर अधिक ध्यान दें, तो निश्चित ही हम दूसरों की धार्मिक-साधनाओं की निन्दा नहीं कर सकते हैं। अनेकान्तवादी कभी भी अस्तित्ववान विविध साधनाओं को सत्य एवं मिथ्या की श्रेणी में विभाजित नहीं करता है। वे तभी मिथ्या होते हैं, जब वे दूसरे धर्मों के सत्यता-मूल्य को नकारते हैं'^{१५}। अनेकान्तवाद के व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण ने जैनाचार्यों को दूसरों के प्रति आचार-विचार में सहिष्णु होने की दृष्टि दी है।

जैनाचार्यों के इस सहिष्णु नजरिए का प्रतिपादन करते हुए उपाध्याय यशोविजयजी (१७वीं शताब्दी) निश्चयपूर्वक कहते हैं कि एक सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी धर्म की अवमानना नहीं करता है, बल्कि सभी धर्मों के साथ उसी प्रकार से समान व्यवहार करता है, जिस प्रकार से एक पिता उसके लड़कों के साथ समान व्यवहार करता है। उसका दृष्टिकोण किसी के प्रति राग या द्वेष पर आधारित नहीं होता है। स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) का सच्चा प्रेमी वही है, जो सभी धर्मों एवं आस्थाओं के प्रति समादरभाव रखता है। सभी धर्मों के प्रति आदरभाव होना ही धार्मिक होने का सार है। धर्मग्रन्थों का एकपक्षीय गहन ज्ञान होने की तुलना में उनका अल्पज्ञान भी यदि व्यक्ति को उदार होने के लिए प्रेरित करता है, तो वह अधिक मूल्यवान् है'^{१६}।

व्यक्तिपूजा नहीं, अपितु गुणोपासना-सहिष्णुता की आधारशिला

जैनधर्म व्यक्तिपूजा का विरोध करता है, क्योंकि इससे मन में आग्रह और असहिष्णुता पैदा होती है। जैनाचार्यों के लिए उपासना का आधार व्यक्तिविशेष

न होकर राग और द्वेष से ऊपर उठ जाना है। जैनाचार्य व्यक्ति के गुणों की उपासना/ वंदना करते हैं, व्यक्ति की नहीं। जैन-परम्परा के परम-पवित्र नमस्कार-महामन्त्र में जिन पाँच पदों-अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की वंदना की जाती है, वे व्यक्तिवाचक अर्थात् महावीर, ऋषभ या अन्य किसी के प्रति न होकर गुणवाचक हैं। नमस्कार-महामन्त्र जैनों की धार्मिक-उदारता और सहिष्णुता का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। इस मन्त्र के पाँचवें पद में विश्व के सभी संतों का वंदन किया जाता है। इसमें आए हुए 'लोए' और 'सव्व' शब्दों को तो धार्मिक-उदारता का सर्वोच्च शिखर कहा जा सकता है^{१०}। वस्तुतः, वंदन व्यक्ति का न होकर उसके आध्यात्मिक-गुणों के विकास के प्रति किया जाना चाहिए, परन्तु हमारी स्थिति यह है कि हम तो अपने-अपने आराध्यों के नाम को लेकर वाद-विवाद करते रहते हैं, यद्यपि नामों का भेद अपने-आप में कोई अर्थ नहीं रखता है। मजे की बात यह है कि सभी आराध्य अन्तिम रूप से तो आत्मा की सर्वोत्तम अवस्था या परमात्मा की ओर ही संकेत करते हैं। आचार्य हरिभद्र 'योगदृष्टिसमुच्चय' में कहते हैं- 'आत्मा की सर्वोत्तम अवस्था लौकिक-जगत् की सभी अवस्थाओं से श्रेष्ठ है, जिसे 'निर्वाण' के नाम से जाना जाता है। वह मूलभूत एवं अपरिहार्य रूप से एक ही है, फिर चाहे हम उसे भिन्न-भिन्न नाम से पुकारें, जैसे-सदाशिव कहें, परब्रह्म कहें, सिद्धात्मा कहें या तथागत कहें, आदि'^{११}। वे न केवल सामान्य अर्थ में, बल्कि व्युत्पत्ति के आधार पर भी वही भावार्थ बताते हुए 'लोकतत्त्वनिर्णय' में कहते हैं- 'जिसके सभी दोष विनष्ट हो चुके हैं और जिसमें सभी गुण विद्यमान हैं, वह फिर ब्रह्मा हो, महादेव हो, विष्णु हो या फिर जिन, हम उसे प्रणाम करते हैं'^{१२}। इसी बात को आगे अकलंक, योगिन्दु, मानतुंग, हेमचन्द्र आदि तथा मध्ययुग के अनेक जैन-विचारकों ने भी अधिक बल प्रदान किया है। भगवान् शिव की पूजा करते हुए जैन आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं- 'मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ, जिनके संसार-परिभ्रमण के कारणभूत राग-द्वेष के बीज समाप्त हो चुके हैं, वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महादेव हो या जिन'^{१३}।

अतः राग-द्वेष, तृष्णा और आसक्ति से रहित होकर विषय-वासनाओं से ऊपर उठ जाना ही महत्त्वपूर्ण है, यही आध्यात्मिक-विकास की परम अवस्था है, अन्य बातों अर्थात् नाम आदि को लेकर विवाद करने का कोई महत्त्व नहीं है, वे सभी मिथ्याभ्रम हैं। आदर, सम्मान, प्रणाम या वंदन आदि के प्रति जैनों की यह उदारता महावीर के पूर्व भवों से सम्बन्धित दंतकथाओं से भी प्रमाणित होती है। यह कहा जाता है कि महावीर ने अपने पूर्व भवों में अनेक बार अन्य

सम्प्रदायों में तापस के रूप में दीक्षित होकर संयम-साधना की और स्वर्ग प्राप्त किया।

इसी प्रकार से धर्मग्रन्थों के प्रति भी जैनों की समान रूप से उदार दृष्टि रही है। वे निश्चयपूर्वक कहते हैं कि प्रज्ञावान् सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत हो सकता है, जबकि विपर्यस्तबुद्धि वाले मिथ्यादृष्टि व्यक्ति के लिए सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत हो जाता है। वस्तुतः प्रश्न ग्रन्थों का नहीं है, प्रश्न है उनका अध्ययन करने वाले के नजरिए का, जिसके कारण कोई भी ग्रन्थ सम्यक् या मिथ्या होता है। वस्तुतः ग्रन्थकारों और उसकी व्याख्या करने वालों की दृष्टि मूल्यवान् होती है। नन्दीसूत्र में इस बात को स्पष्ट रूप से समझाया गया है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि धर्मग्रन्थों के सम्बन्ध में जैनों का रवैया न तो कठोर है और न ही संकीर्ण^{२१}।

जैन-ग्रन्थों में धार्मिक-सहिष्णुता के प्रसंग

जैनधर्म का इतिहास धार्मिक-सहिष्णुता के प्रसंगों से परिपूर्ण है। जैन-विचारकों ने अन्य धर्मों और विचारधाराओं के प्रति समादरभाव प्रस्तुत किया है। सूत्रकृतांग, जो कि जैनों का एक प्राचीन ग्रन्थ है, (ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी) में कहा गया है कि जो अपने-अपने मत की प्रशंसा करते हैं और दूसरे के मतों की निन्दा करते हैं तथा उनके प्रति विद्वेष रखते हैं, वे संसार चक्र में परिभ्रमित होते रहते हैं^{२२}। संभवतः धार्मिक-उदारता के लिए इससे महत्त्वपूर्ण अन्य कोई वचन नहीं हो सकता है। इसी कालखण्ड के दूसरे प्रसिद्ध जैन-ग्रन्थ ऋषिभाषित के अन्तर्गत उन पैतालीस अर्हत् ऋषियों के उपदेशों का संकलन है, जिनमें पार्श्वनाथ और महावीर को छोड़कर लगभग सभी जैनेतर परम्पराओं के हैं। नारद, भारद्वाज, नमि, रामपुत्र, सारिपुत्र, महाकाश्यप, मंखलि गोशाल आदि अनेक धर्ममार्ग के प्रवर्तकों एवं आचार्यों के विचारों का जिस आदर के साथ संकलन किया गया है, वह भी जैनों की धार्मिक-उदारता और सहिष्णुता का परिचायक है^{२३}। इन सभी को अर्हत्-ऋषि और इनके उपदेशों को अर्हत् वचन कहा गया है। संभवतः, विश्वधर्म के इतिहास में यह एकमात्र ऐसा उदाहरण है, जहाँ विरोधी विचारधारा और विश्वासों के व्यक्तियों के वचनों को अर्हत्-वाणी के रूप में स्वीकार कर समादर के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन जैन-विचारकों का दृष्टिकोण कितना उदार एवं निष्पक्ष रहा है। भगवतीसूत्र के अन्दर हम यह देखते हैं कि भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी गणधर इन्द्रभूति गौतम को मिलने के लिए उनके पूर्व परिचित मित्र स्कन्धक

संन्यासी, जो कि अन्य परम्परा में परिव्राजक के रूप में दीक्षित हो गए थे, आते हैं, तो महावीर स्वयं गौतम को उनका सम्मानपूर्वक स्वागत करने का आदेश देते हैं। गौतम आगे बढ़कर अपने मित्र का स्वागत करते हैं और कहते हैं—‘स्कन्ध! तुम्हारा स्वागत है, सुस्वागत है^{२५}।’ अन्य परम्परा के श्रमणों और परिव्राजकों के प्रति इस प्रकार का सम्मान एवं आदरभाव निश्चित ही धार्मिक-सहिष्णुता और पारस्परिक-सद्भाव में वृद्धि करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में हम देखते हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के तत्कालीन प्रमुख श्रमणकेशी और भगवान् महावीर के प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम जब संयोग से एक ही समय श्रावस्ती में उपस्थित होते हैं, तो दोनों परम्पराओं के पारस्परिक-मतभेदों को दूर करने के लिए परस्पर सौहार्दपूर्ण वातावरण में दोनों मिलते हैं। एक ओर ज्येष्ठकुल का विचार कर गौतम स्वयं श्रमणकेशी के पास जाते हैं, तो दूसरी ओर श्रमणकेशी उन्हें श्रमणपर्याय में ज्येष्ठ मानकर उनका समादर करते हैं। जिस सौहार्दपूर्ण वातावरण में यह चर्चा चलती है और पारस्परिक-मतभेदों का निराकरण किया जाता है^{२६}, यह सब धार्मिक-सहिष्णुता और उदार दृष्टिकोण का एक अद्भुत उदाहरण है। आचार्य हरिभद्र ने न केवल इस दृष्टिकोण को बनाए रखा, बल्कि उन्होंने इसे नए आयाम दिए हैं। हरिभद्र संयोग से उस युग में उत्पन्न हुए, जब विभिन्न दर्शनों के बीच आलोचना-प्रत्यालोचना अपनी चरम सीमा पर थी, फिर भी हरिभद्र न केवल अपनी समालोचना में संयत रहे, अपितु उन्होंने सदैव ही अन्य परम्पराओं के प्रति आदरभाव प्रस्तुत किया।

‘शास्त्रवार्तासमुच्चय’ उनकी इस उदारवृत्ति और सहिष्णु-दृष्टि की परिचायक एक महत्त्वपूर्ण कृति है। बौद्धदर्शन की दार्शनिक-मान्यताओं की समीक्षा करने के उपरान्त वे कहते हैं कि बुद्ध ने जिन क्षणिकवाद, अनात्मवाद और शून्यवाद के सिद्धान्तों का उपदेश दिया वह ममत्व के विनाश और तृष्णा के उच्छेद के लिए आवश्यक ही था। वे भगवान् बुद्ध को अर्हत्, महामुनि और सुवैद्य की उपमा देते हैं और कहते हैं कि जिस प्रकार एक अच्छा वैद्य रोगी के रोग की प्रकृति को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न रोगियों को भिन्न-भिन्न औषधि प्रदान करता है, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने अपने अनुयायियों के विभिन्न स्तरों को ध्यान में रखते हुए इन विभिन्न सिद्धान्तों का उपदेश दिया है^{२७}। ऐसा ही उदार दृष्टिकोण वे सांख्य और न्यायदर्शन के प्रतिपादकों के प्रति व्यक्त करते हैं। वह कहते हैं कि सांख्य का ‘प्रकृतिवाद’ और न्याय का ‘ईश्वरकर्तव्यवाद’—दोनों का यदि सापेक्षिक-दृष्टिकोण के आधार पर अध्ययन किया जाए, तो वे भी सत्य और युक्तिसंगत

ही लगते हैं^{२७}। वे कपिल के लिए भी महामुनि शब्द का प्रयोग कर उनके प्रति अपना आदरभाव प्रकट करते हैं। विभिन्न विरोधी दार्शनिक-विचारधाराओं में किस प्रकार से संगति स्थापित की जा सकती है, यह ग्रन्थ इसका एक अच्छा उदाहरण है। विश्वधर्म के इतिहास में सम्प्रदायवाद के विरुद्ध हरिभद्र की यह सहिष्णुदृष्टि बेजोड़ और श्लाघ्य है।

इन साहित्यिक-प्रमाणों के साथ ही जैनों की धार्मिक-सहिष्णुता के कुछ अभिलेखीय-प्रमाण भी मिलते हैं। कुछ जैनाचार्य, जैसे रामकीर्ति एवं जयमंगलसूरि ने क्रमशः तोकलजी और चामुण्डा के मन्दिर के लिए प्रशस्ति-काव्य लिखे^{२८}। इसके अतिरिक्त कुमारपाल आदि जैन राजाओं ने जैन-मन्दिरों के साथ ही भगवान् शिव और विष्णु के मन्दिरों का भी निर्माण कराया था^{२९}।

अन्त में, मैं यह कहना चाहूँगा कि जैनधर्म का अनेकान्तवाद धार्मिक-सहिष्णुता की एक निर्दोष दार्शनिक-आधारशिला है। अपने सम्पूर्ण ऐतिहासिक कालक्रम में धर्म के नाम पर होने वाले विवादों में व्यावहारिक रूप से जैन धर्म कभी भी संलिप्त नहीं रहा है और न ही दूसरे धर्म के लोगों को क्रूरतापूर्वक सताने के लिए उसने कभी कोई प्रयास किया है। उसने सदैव ही धार्मिक-सहिष्णुता और सभी धर्मों के बीच मैत्रीभाव में विश्वास किया है।

यद्यपि जैन-आचार्य विभिन्न धर्मों को मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि के आधार पर वर्गीकृत करते हैं, फिर भी उनके अनुसार जो एकांतिक दृष्टिकोण रखता है, अर्थात् केवल अपने धर्म को ही सत्य समझता है और अन्य धर्मों को बिल्कुल ही असत्य, तो यह मिथ्यादृष्टि है। वहीं अपने विरोधियों के धर्म एवं विचारधारा के प्रति पूर्वाग्रह रहित होकर उनमें भी सत्यता को देखना सम्यक् दृष्टिकोण है। यहाँ यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि जैनधर्म सभी धर्म-दर्शनों का समुच्चय कहा गया है। (मिच्छादसंणसमूहं) सिद्धसेन कहते हैं—‘जिनोपदेश व्यापक एवं उदार होते हैं, क्योंकि उनमें सभी दर्शनों और विचारधाराओं का समावेश होता है। उसमें सभी एकपक्षीय विचारधाराओं और दर्शनों के प्रति भी समादरभाव प्रस्तुत किया गया है, वह अमृतरूप और मुमुक्षुजनों के लिए आसानी से ग्राह्य है^{३०}।

रहस्यवादी जैनसंत आनंदधनजी (१७वीं शताब्दी) कहते हैं—‘जिस प्रकार से समुद्र अपने में सभी नदियों को समाहित कर लेता है, ठीक उसी प्रकार से जैनधर्म भी सभी धर्मों को अपने में समाहित कर लेता है।’ इसी बात को आगे वे बड़ी सुन्दरता के साथ प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि सभी दर्शन (षड्दर्शन) जिन के अंग हैं और जिन का उपासक सभी दर्शनों की उपासना करता है^{३१}।

ऐतिहासिक-तथ्यों से भी पता चलता है कि जैनों द्वारा अन्य धर्मों के देवी-देवताओं के मन्दिर बनवाए गए थे, वे उनके प्रति समादरभाव प्रदर्शित करते हैं। आचार्य सोमदेव अपने ग्रन्थ यशस्तिलक-चम्पू में लिखते हैं कि-‘जहाँ धर्म के नाम पर विकृति नहीं है, लोग संयमी जीवन को अंगीकार करते हैं, वहाँ देश में प्रचलित सभी परम्पराओं का आदरभाव के साथ पालन किया जाता है^{३१}’

जैनाचार्य विश्व के सभी धर्मों के सह-अस्तित्व में विश्वास करते हैं, परन्तु एकता से उनका आशय सर्वग्राही एकता से नहीं है, अपितु धर्मों की उस विशेष प्रकार की एकता से है, जिसमें कि सभी धर्मों में समान रूप से प्रतिपादित सदगुणों के आधार पर वे सभी धर्म परस्पर एक-दूसरे से जुड़े तथा जिसमें प्रत्येक धर्म का स्वतन्त्र अस्तित्व एवं पहचान अक्षुण्ण रहे, साथ ही सभी धर्मों के प्रति समादरभाव हो। दूसरे शब्दों में, वे सभी धर्मों के सौहार्दपूर्ण सह-अस्तित्व और मानव-जाति में शान्ति स्थापित करने के लिए कार्य करने में विश्वास करते हैं। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा को रोकने एवं संघर्षों को समाप्त करने के लिए कुछ लोग एक विश्व-धर्म का नारा दे सकते हैं, परन्तु न तो यह संभव है और न ही व्यावहारिक। चूँकि मानवीय-विचारों में विविधता विद्यमान है, अतः धार्मिक विचारधाराओं में भिन्नता स्वाभाविक है।

‘नियमसार’ में कहा गया है कि इस जगत् में भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति हैं और उनके भिन्न-भिन्न कर्म या गतिविधियाँ हैं और उनकी क्षमताएँ एवं योग्यताएँ भी भिन्न-भिन्न हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह धर्म के क्षेत्र में होने वाले उग्र विवादों या धर्म के नाम पर निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए होने वाले आन्दोलनों में कभी भी अपने-आपको संलिप्त नहीं करे^{३२}।

समदर्शी आचार्य हरिभद्र स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ऋषियों के उपदेशों में जो भिन्नता है, वह उपासकों की योग्यताओं की भिन्नता या उन ऋषियों के दृष्टिकोण में भिन्नता या देशकालगत भिन्नता के आधार पर है। जिस प्रकार से एक वैद्य अलग-अलग व्यक्तियों को उनकी प्रकृति की भिन्नता, अथवा रोग की भिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न औषधि प्रदान करता है, यही बात धार्मिक-उपदेशों की भिन्नता पर भी लागू होती है^{३३}।

इस प्रकार साधकों या उपासकों में देश, काल, परिस्थिति, वैयक्तिक-योग्यता और स्वभावगत विविधताएँ तो अपरिहार्य हैं, अतः इन विविधताओं के कारण होने वाले धार्मिक-संघर्षों का निराकरण करने के लिए मानवीय-समाज में एक उदार दृष्टिकोण और विभिन्न धर्मों के बीच सौहार्दता विकसित करना आज की चरम आवश्यकता है।

अन्त में, धार्मिक-सहिष्णुता और विभिन्न धर्मों के बीच मैत्रीभाव के सम्बन्ध में आचार्य अमितगति द्वारा रचित निम्न सुन्दर पंक्तियों को उद्धृत करना चाहूँगा-

सत्त्वेषु मैत्री, गुणेषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव^{३५}।।

हे प्रभु! प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव, गुणीजनों के प्रति समादरभाव, दुःखी एवं पीड़ितजनों के प्रति कृपाभाव तथा विरोधियों के प्रति माध्यस्थभाव-समताभाव मेरी आत्मा में सदैव रहे।

सन्दर्भ-सूची

१. N. M. Tatia, *Studies in Jain Philosophy*, P.V. Research Institute Varanasi-5, 1958, P. 2.
२. (१) भगवती (अभयदेववृत्ति), ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम, १९३७, १४१७, पेज ११८।
(२) अभिधान राजेन्द्र कोष भाग-२, पेज-९५९ और कल्पसूत्र टीका, विनयविजयजी द्वारा सम्पादित, १२७ ज-१२० में उद्धृत।
३. उत्तराध्ययनसूत्र, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२, २३/२५।
४. वही-२३/२५।
५. षड्दर्शनसमुच्चय (गुणरत्नवृत्ति), महेन्द्रकुमार जैन द्वारा सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९८१, पेज-४६१।
६. लोकतत्त्वनिर्णय, हरिभद्र, जैनग्रन्थ प्रकाशनसभा अहमदाबाद विक्रम, १९६४ ३८वीं पंक्ति।
७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अमृतचन्द्र, द सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम लखनऊ, १९३३।
८. हेमचन्द्र १/२२।
९. (१) आवश्यकनिर्युक्ति, सम्पादित, श्री विजयजिनेसूरीश्वर, हर्षपुष्पामृत जैनग्रन्थमाला लाखाबावक, शान्तिपुरी, सौराष्ट्र, ७६।
(२) विशेषावश्यकभाष्य, एल.डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद, १९६८, २७४८।
१०. प्रो. एस. मुखर्जी, Foundation of World Peace, Ahinsa and Anekanta, वैशाली इन्स्टीट्यूट रिसर्च बुलेटिन नं. १ पेज २२९।

जैनधर्म में धार्मिक-सहिष्णुता की स्थापना के मूल आधार : २९

११. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६/४९।
१२. डॉ. सागरमल जैन, जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पेज-५, भाग-२, प्रथम संस्करण।
१३. आचारांगसूत्र, १/४२।
१४. उपदेशतरंगिणी, आचार्य हरिभद्र, भुराभाई हर्षचन्द्र, वाराणसी, वि.सं. २४३७, १/८, पेज-९८।
१५. सन्मतितर्क प्रकरण, २८, सिद्धसेन, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६३।
१६. अध्यात्मोपनिषद्, यशोविजयजी श्री जैनग्रन्थ प्रकाशनसभा, भावनगर, प्रथम संस्करण, विक्रम, १९६५।
१७. व्याख्याप्रज्ञप्ति, श्री महावीर जैन विद्यालय, बाम्बे, १/१।
१८. योगदृष्टिसमुच्चय, हरिभद्र, लालभाई-दलपतभाई, भारतीय संस्कृति मन्दिर, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण, १९७०, १३०।
१९. लोकतत्त्वनिर्णय, हरिभद्र, श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशनसभा, अहमदाबाद, विक्रम, १९९४, ४०।
२०. महादेव स्तोत्र, ४४ (स्वाध्याय ग्रन्थ संग्रह में प्रकाशित)।
२१. श्री महावीर जैन विद्यालय, बाम्बे, प्रथम संस्करण, १९६८, ७२, पेज-३०।
२२. सूत्रकृतांग १/१/२/२३।
२३. इसिभासियाई १/१, इसके अन्य अध्यायों के नाम भी देखें, सम्पादित, डॉ. वाल्टर शुब्रिंग, एल.डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद, ९, १९७४।
२४. भगवतीसूत्र, २/१।
२५. उत्तराध्ययनसूत्र, सन्मति/ज्ञानपीठ, आगरा, प्रथम संस्करण, २३/१६।
२६. शास्त्रवार्तासमुच्चय, एल.डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, प्रथम संस्करण, १९६९/६/४६४, ६५, ६७।
२७. वही, ३/२०७ और ३/२३७।
२८. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-३, 'इन्ट्रोडक्शन'—जी.सी. चौधरी, इसके अतिरिक्त इस पुस्तक के भाग-१, २ व ३ के १८१, २४९, ३१५, ३३२, ३३३, ३५६, ५०७, ६४९ तथा ७१० न. के शिलालेख भी देखें।
२९. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-३, 'इन्ट्रोडक्शन'—जी.सी. चौधरी, इसके अतिरिक्त इस पुस्तक के भाग-१, २ व ३ के १८१, २४९, ३१५, ३३२, ३३३, ३५६, ५०७ तथा ७१० नम्बरों के शिलालेख भी देखें।
३०. सन्मतितर्क-प्रकरण, ज्ञानोदय, ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६३, ३/६९।

३० : श्रमण, वर्ष ६०-६१, अंक ४, १ / अक्टू.-दिसम्बर ०९-जन.-मार्च-१०

३१. नमिजिनस्तवन, आनंदघन ग्रन्थावली, श्री जैन श्रेयस्कर मण्डल, मेहसाणा (१९५७)।
३२. यशस्तिलक चम्पू, सोमदेवसूरि, निर्णय सागर प्रेस, बाम्बे, पेज-८३७।
३३. नियमसार, कुन्दकुन्द, १५५, द सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाऊस, लखनऊ, १९३७।
३४. योगदृष्टिसमुच्चय, हरिभद्र, एल.डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद, १९७०।
३५. सामायिक पाठ-१, अमितगति, सामायिकसूत्र में प्रकाशित, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

*

टमाटर एवं आलू मांसाहारी पौधे

टमाटर एवं आलू मांसाहारी पौधे हैं यह जानकर किसे आश्चर्य नहीं होगा। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि टमाटर एवं आलू के पौधे अपने पोषण हेतु जमीन में रहने वाले छोटे-बड़े कीड़ों को अपने गिरफ्त में लेकर ही अपनी क्षुधापूर्ति करते हैं।

“रॉयल बोटानिकल गार्डन व्यू” एवं “न्यू मेरी विश्वविद्यालय”- लन्दन के अनुसंधानकर्ताओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि टमाटर एवं आलू के पौधे अपने जड़ों में विद्यमान कोशिकाओं की सहायता से अपने आस-पास में रहने वाले छोटे-बड़े कीड़ों को अपने गिरफ्त में लेकर ही अपनी क्षुधापूर्ति करते हैं तथा उन्हें आवश्यक तत्व इन्हीं कीड़ों से प्राप्त होता है। “रॉयल बोटानिकल गार्डन व्यू” एवं “न्यू मेरी विश्वविद्यालय”- लन्दन के वैज्ञानिक मारक चेस ने बताया कि पहले यह समझा जाता था कि केवल जंगल में रहने वाले पौधे ही मांसाहारी होते हैं लेकिन इस अनुसंधान से यह सिद्ध हो गया कि टमाटर एवं आलू के पौधे भी मांसाहार का सेवन करते हैं।

इकोनामिक टाइम से साभार

एन. सुगालचन्द जैन, चेन्नई

जैन दर्शन में काल की अवधारणा

डॉ. सुदर्शन मिश्र

‘काल’ शब्द का प्राचीनतम उल्लेख हमें ऋग्वेद में उपलब्ध होता है^१, जिसका अर्थ वैदिक विद्वान् अधमर्षण ने संवत्सर किया है। अथर्ववेद में काल को नित्य पदार्थ स्वीकार किया गया है और उससे प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति मानी गयी है^२। उपनिषदों में भी ‘काल’ शब्द विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है^३। महाभारत में ‘काल’ शब्द को दिष्ट, हठ, भव्य, भवितव्य, विहित, मागधेय आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है^४। योग, सांख्य आदि दर्शन काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते। पातञ्जल योगसूत्र में भी काल की वास्तविक सत्ता नहीं मानी गई है। काल वस्तुगत सत्य नहीं है। बुद्धिनिर्मित तथा शब्दज्ञानानुपाती है। व्युत्थितदृष्टिवाले व्यक्तियों को वह वस्तु स्वरूप की तरह अवभासित होता है^५। शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ सम्प्रदाय ने भी काल को वास्तविक पदार्थ नहीं माना है। बौद्ध दर्शन के अनुसार ‘काल व्यवहार के लिए कल्पित संज्ञा है^६।

आधुनिक विज्ञान भी काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मान रहा है। उसके अनुसार काल Subjective है। Stephen Howking के शब्दों में आधुनिक विज्ञान सम्मत काल की अवधारणा को हम समझ सकते हैं—‘Our views of nature of time have changed over the years. Up to the beginning of this century people believed in a absolute time. That is each event could be labeled by a number called ‘time’ in a unique way, and all good clocks would agree on the time interval between time events. However, the discovery that the speed of light appeared the same to every observer, no matter how he was moving, led to the theory of relativity-and in that one had to abandon the idea that there was a unique absolute time. Instead, each observer would have his own measure of time as recorded by a colck that he carried. Clocks carried

* प्रधानाचार्य, वी.एस.एस.कॉलेज, बचरी-पीरो, भोजपुर (बिहार)

by different observers would not necessarily agree. Thus time become a more personal concept relative to the observer who measured it.¹⁷

नैयायिक और वैशेषिक काल को सर्व-व्यापी स्वतन्त्र और अखण्ड द्रव्य मानते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वान् भी काल के सम्बन्ध में दोनों सिद्धान्तों को मानते हैं।

जैन परम्परा में काल के सन्दर्भ में दो अवधारणाएँ प्राप्त हैं—प्रथम अवधारणा के अनुसार काल स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, वह जीव और अजीव की पर्याय मात्र है। इस मान्यता के अनुसार जीव एवं अजीव द्रव्य के परिणमन को ही उपचार से काल माना जाता है। वस्तुतः जीव और अजीव ही काल द्रव्य हैं। काल की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। दूसरी अवधारणा के अनुसार काल स्वतन्त्र द्रव्य है। अद्वासमय के रूप में उसका पृथक् उल्लेख है^{१०}। यद्यपि काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वालों ने भी उसको अस्तिकाय नहीं माना है। सर्वत्र धर्म-अधर्म आदि पाँच अस्तिकायों का ही उल्लेख प्राप्त होता है^{११}।

श्वेताम्बर परम्परा में काल की दोनों प्रकार की अवधारणाओं का उल्लेख है, किन्तु दिगम्बर परम्परा में काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाली अवधारणा का ही उल्लेख है। यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है, किन्तु काल के स्वरूप के सम्बन्ध में उनमें परस्पर भिन्नता है। श्वेताम्बर परम्परा काल को अणु नहीं मानती तथा व्यावहारिक काल को समयक्षेत्रवर्ती तथा नैश्चयिक काल को लोक-अलोक प्रमाण मानती है^{१२}। दिगम्बर परम्परा के अनुसार 'काल' लोक व्यापी और अणु रूप है। कालाणु असंख्य हैं, लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित हैं^{१३}।

आचार्य महाप्रज्ञ इन दोनों अवधारणाओं की संगति अनेकान्त के आधार पर बैठाते हुए लिखते हैं—'काल छह द्रव्यों में एक द्रव्य भी है और जीव-अजीव की पर्याय भी है। ये दोनों कथन सापेक्ष हैं, विरोधी नहीं। निश्चय दृष्टि में काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार दृष्टि में वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। वह परिणमन का हेतु है, यही उसका उपकार है, इसी कारण वह द्रव्य माना जाता है^{१४}।

काल द्रव्य दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के अनुसार अस्तिकाय है। श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से औपचारिक और दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से वास्तविक काल के उपकार या लिंग पाँच हैं—'वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे

च कालस्य'^{५५} अर्थात् वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व—ये काल द्रव्य के कार्य हैं। वर्तना शब्द के दो अर्थ हैं—वर्तन करना तथा वर्तन कराना। प्रथम अर्थ काल के सम्बन्ध में तथा द्वितीय अर्थ बाकी द्रव्यों के सम्बन्ध में घटित होता है। तात्पर्य यह है कि काल स्वयं परिवर्तन करता है तथा अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में भी सहकारी होता है। जैसे कुम्हार का चाक स्वयं परिवर्तनशील होता है तथा अन्य मिट्टी आदि को भी परिवर्तित करता है, उसी प्रकार काल भी है। संसार की प्रत्येक वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होने से परिवर्तनशील है, काल उस परिवर्तन में निमित्त है। काल परिणाम भी कराता है। एक देश के दूसरे देश में प्राप्ति हेतु हलन-चलन रूप व्यापार क्रिया है। परत्व का अर्थ उम्र में बढ़ा और अपरत्व का अर्थ उम्र में छोटा है—ये सभी कार्य भी काल द्रव्य के हैं। नयापन-पुरानापन आदि भी कालकृत ही हैं'^{५६}।

परिवर्तन का जो कारण है, उसे ही काल कहते हैं। काल की व्याख्या दो दृष्टियों से की जा सकती है। द्रव्य का स्वजाति के परित्याग के बिना वैज्ञानिक और प्रायोगिक विकार रूप परिणाम'^{५७} व्यवहार दृष्टि से काल को सिद्ध करता है। प्रत्येक द्रव्य परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तनों के होते हुए भी उसकी जाति का कभी विनाश नहीं होता। इस प्रकार के परिवर्तन परिणाम कहे जाते हैं। इन परिणामों का जो कारण है, वह काल है। यह व्यवहार दृष्टि से काल की व्याख्या है। प्रत्येक द्रव्य और पर्याय की प्रतिक्षणभावी स्वसत्तानुभूति वर्तना है'^{५८}। इस वर्तना का कारण काल है। यह काल की पारमार्थिक व्याख्या है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक वृत्तिवाला है। यह वृत्ति प्रतिक्षण रहती है। कोई भी क्षण इस वृत्ति के बिना नहीं रह सकता। यही पारमार्थिक काल का कार्य है। काल का अर्थ है— परिवर्तन। परिवर्तन को समझने के लिए अन्वय का ज्ञान होना आवश्यक है। अनेक परिवर्तनों में एक प्रकार का अन्वय रहता है। इसी अन्वय के आधार पर यह जाना जा सकता है कि उस वस्तु में परिवर्तन हुआ। यदि अन्वय न हो तो क्या परिवर्तन हुआ, किसमें परिवर्तन हुआ—इसका जरा भी ज्ञान नहीं हो सकता। स्वजाति का त्याग किये बिना विविध प्रकार का परिवर्तन होना काल का कार्य है। इसी काल के आधार पर हम घंटा, मिनट, सेकण्ड आदि विभाग करते हैं। यह व्यावहारिक काल है। पारमार्थिक या निश्चय दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ का क्षणिकत्व काल का द्योतक है। क्षण-क्षण में पदार्थ में परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन बौद्ध परिवर्तन की तरह ऐकान्तिक न होकर ध्रौव्ययुक्त है'^{५९}।

काल अरूपी और अजीव द्रव्य है। काल अनन्त है। दिन, रात, मास, ऋतु,

वर्ष आदि उसके भेद हैं। ये समस्त भेद काल के कारण ही होते हैं। काल न होता तो ये भेद भी नहीं होते। जीव और पुद्गल में समय-समय पर जीर्णता उत्पन्न होती है, वह काल द्रव्य की सहायता के बिना नहीं हो सकती। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप स्वभाव से युक्त जीव और 'पुद्गल का जो परिणमन दिखाई देता है, उससे काल द्रव्य सिद्ध होता है'२०।

काल द्रव्य पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्शों से रहित है। हानि-वृद्धिरूप है, अगुरुलघु गुणों से युक्त है, अमूर्त है और वर्तना लक्षण सहित है।^{२१}

दिगम्बर परम्परानुसार काल निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। श्वेताम्बर परम्परानुसार काल चार प्रकार का है—प्रमाणकाल, यथायुर्निवृत्ति काल, मरणकाल और अद्भ्यकाल। काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं इसलिये उसे प्रमाणकाल कहा जाता है। जीवन और मृत्यु भी काल सापेक्ष हैं इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायुर्निवृत्तिकाल और उसके अन्त को मरणकाल कहा जाता है। सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्ध रखने वाला अद्भ्यकाल कहलाता है। काल का प्रधान रूप अद्भ्यकाल ही है। शेष तीनों इसी के विशिष्ट रूप हैं। अद्भ्यकाल व्यावहारिक है। वह मनुष्य लोक में ही होता है। इसीलिए मनुष्य लोक को समय क्षेत्र कहा जाता है। निश्चय काल जीव-अजीव का पर्याय है। वह लोक-अलोक व्यापी है उसके विभाग नहीं होते। समय से लेकर पुद्गल परावर्त तक के जितने विभाग हैं वे सब अद्भ्यकाल के हैं। इसका सर्वसूक्ष्म भाग समय कहलाता है जो अविभाज्य होता है। इसकी प्ररूपणा कमलपत्र-भेद और वस्त्र विदारण के द्वारा की जाती है^{२२}। मन्दगति से एक पुद्गल परमाणु को लोकाकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाने में जितना समय लगता है उसे एक 'समय' कहते हैं। इस दृष्टि से जैनधर्म की समय की अवधारणा आधुनिक विज्ञान के बहुत समीप है। १९६८ की एक परिभाषा के अनुसार सीजियम धातु नं. १३३ के परमाणुओं के ९१९२६३१७७६ कम्पन की निश्चित अवधि कुछ विशेष परिस्थितियों में एक सेकण्ड के बराबर होती है^{२३}।

अन्ततः निष्कर्ष स्वरूप श्रमणी मंगलप्रज्ञा के शब्दों में^{२४} हम कह सकते हैं कि काल के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मतभेद हो सकते हैं किन्तु व्यावहारिक जगत् में उसकी उपयोगिता निर्विवाद है। इसी उपयोगिता के कारण काल को द्रव्य की कोटि में परिगणित किया गया है। 'उपकारकं द्रव्यम्' जो उपकार करता है वह द्रव्य है। काल का उपकार भी प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः काल की स्वीकृति

आवश्यक है। कालवादी दर्शनिक तो मात्र काल को ही विश्व का नियामक तत्त्व स्वीकार करते हैं^{२५}। इतना न भी मानें तो भी विश्व-व्यवस्था का एक अनिवार्य घटक तत्त्व तो काल को मानना ही होगा।

सन्दर्भ-सूची

१. ऋग्वेद, १०.१९०।
२. अथर्ववेद, १८/५३, ५४।
३. (अ) बृहदारण्यक, ४.४.१६।
(ब) मैत्रायण, ६.१५।
४. जैनदर्शन के नव तत्त्व—डॉ. धर्मशीला, पृ. ८१।
५. (अ) पातंजलयोगदर्शनम्, ३/५२।
(ब) जैन आगम में दर्शन, समणी मंगलप्रज्ञा, पृ. १३५ पर उद्धृत।
६. जैन दर्शन के नव तत्त्व, पृ. ८१।
७. (अ) Howking, Stephen—*A Brief History of Time*, p-143. (ब) जैन आगम में दर्शन, पृ. १४० पर उद्धृत।
८. जैन दर्शन के नव तत्त्व, डॉ. धर्मशीला, पृ. ८१-८२।
९. समयति वा, अवलियाति वा, जीवाति वा, अजीवाति वा—ठाणं २/३८७।
१०. अंगसुत्ताणि, २ (भगवई) १३/६१-७१।
११. वही, २/१२४।
१२. वही, ५/२४८।
१३. लोगागासपदे से एक्केक्क जेठिया हु ऐक्केक्का। रयणाणं रासी इव, ते कालाणु असंखदव्वाणि॥ द्रव्य संग्रह-२२
१४. उत्तरज्झयणाणि, २८/१० का टिप्पण, पृ. १४८।
१५. तत्त्वार्थसूत्र, ५/२२।
१६. जैन दर्शन में द्रव्य, कपूर चन्द जैन, पृ. ३०.३१।
१७. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५.२२.१०।
१८. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५.२२.४।
१९. जैन धर्म दर्शन, डॉ. मोहन लाल मेहता, पृ. २१९-२०।
२०. कुन्दकुन्दाचार्य, पंचास्तिकाय गाथा, २३, पृ. ४८।
सम्भावसभावाणं जीवणां तह यु पोगलाणं च।
परियट्टणसंभूदो कालो नियमेण पण्णत्तो॥२३॥
२१. कुन्दकुन्दाचार्य, पंचास्तिकाय गाथा, २४ पृ. ५०।

३६ : श्रमण, वर्ष ६०-६१, अंक ४, १ / अक्टू.-दिसम्बर ०९-जन.-मार्च-१०

ववगदपणवण्णरसो बवगददोगंध अट्टफासो च।

अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खा च कालोत्ति॥२४॥

२२. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. १९६।

२३. द्रष्टव्य, नवनीत, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, जून १९८०, पृ. १०६।

२४. जैन आगम में दर्शन, पृ. १४०।

२५. षड्दर्शनसमुच्चय, डॉ. महेन्द्र कुमार जैन, दिल्ली, १९९७, वृ.पृ. १६।

काल : पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।

काल : सप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥



जैन दर्शन में आकाश

डॉ. रामजी राय

आकाश सर्वमान्य, सर्वसुलभ, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष वास्तविक तथ्य है, जिस पर दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के विचार प्रस्तुत होते आ रहे हैं। विचार कभी पूर्ण अथवा निर्विवादित नहीं होते, अतः पुनर्विचार चलते रहते हैं। तर्क और विज्ञान सम्मत विचारों की खोज जारी रहती है। आकाश के सम्बन्ध में भी यही बात है। आकाश पर दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों ने अपने-अपने ढंग से विचार व्यक्त किये हैं और कर रहे हैं। खोज जारी है और इसकी कोई समय-सीमा नहीं है। दार्शनिक अपने सहज अन्तःदर्शन के सहारे वैज्ञानिक बौद्धिक ज्ञान के आधार पर खोज जारी रखे हुए हैं।

प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने आकाश द्रव्य को स्वीकार किया है, किन्तु आकाश द्रव्य का जितना विशद् वर्णन जैन दर्शन में उपलब्ध है, उतना अन्यत्र नहीं। आकाश द्रव्य के सम्बन्ध में पाश्चात्य दार्शनिकों के दो मत दिखायी देते हैं—वास्तविक और अवास्तविक।^१ डेकार्ट्स, लाइबनीज, काण्ट आदि दार्शनिकों ने आकाश को स्वतन्त्र वस्तुसापेक्ष वास्तविक नहीं माना। परन्तु प्लेटो, अरस्तू, ग्रेसेण्डी आदि आकाश को स्वतन्त्र वस्तुसापेक्ष वास्तविक मानते हैं। जैन दर्शन आकाश को अस्तिकाय मानता है, जो वास्तविक है। वास्तविकता की दृष्टि से जैन दर्शन का मत दूसरे पक्ष से मेल खाता है।

आकाश के सम्बन्ध में दो भेद और भी हैं—(१) शून्य और (२) अशून्य। काण्ट, ग्रेसेण्डी आदि तत्त्वज्ञ शून्य आकाश का अस्तित्व भी वास्तविक मानते हैं, जबकि डेकार्ट्स, लाइबनीज, प्लेटो आदि का मत है कि पदार्थ के अभाव में आकाश का कुछ भी अस्तित्व नहीं है। सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन दर्शन का सादृश्य प्रथम पक्ष के साथ दिखायी पड़ता है। अलोकाकाश पूर्णतया रिक्त है, फिर भी वास्तविक है। लोकाकाश में भी निश्चित रूप से शून्यता की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सम्पूर्ण लोकाकाश पदार्थों से व्याप्त है।

आकाश के पच्चीस पर्यायवाची नामों के उल्लेख जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जिनकी व्युत्पत्तिगत भिन्नता भगवती टीका में निम्न प्रकार उल्लिखित है—

१. आकाशः - जिसमें सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में प्रकाशित होते हैं।
२. गगन - अबाधित गमन का कारण।
३. नभ - शून्य होने से जो दीप्त नहीं होता।
४. सम - जो एकाकार है, विषम नहीं है।
५. विषम - जिसका पार पाना दुष्कर है।
६. खह - भूमि को खोदने से अस्तित्व में आने वाला।
७. विघ - जिसमें क्रियाएँ की जाती हैं।
८. वीचि - विविध स्वभाव वाला।
९. विवर - आवरण न होने के कारण विवर।
१०. अम्बर - माता की भाँति जनन सामर्थ्य से युक्त पानी का दान करने वाला।
११. अंबरस - जल को धारण करने वाला।
१२. छिद्र - छेदन से उत्पन्न होने वाला।
१३. झुषिर - रिक्तता को प्रस्तुत करने वाला।
१४. मार्ग - गमन करने का मार्ग।
१५. विमुख - प्रारम्भिक बिन्दु के अभाव के कारण विमुख।
१६. अर्द्ध - जिससे गति की जाती है।
१७. आधार - आधार देने वाला।
१८. व्योम - जिसमें विशेष रूप से गमन किया जाता है।
१९. भाजन - समस्त विश्व का आश्रयभूत।
२०. अन्तरिक्ष - जिसके बीच (नक्षत्र आदि) देखे जाते हैं।
२१. श्याम - नीला होने के कारण श्याम।
२२. अवकाशान्तर - दो अवकाशों के बीच होने वाला।
२३. अगम - जो स्थिर है, गमन क्रिया से रहित है।
२४. स्फटिक - स्फटिक की भाँति स्वच्छ।
२५. अनन्त - अन्तरहित^३।

जैन दर्शन में आकाश की परिभाषा करते हुए बतलाया गया है—
 'अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं'^४ अर्थात् जो जीवादि द्रव्यों को

अवकाश देने वाला है, उसे आकाश द्रव्य जानो। 'अवकाशदानाद्वा'^५ अर्थात् जो अन्य सर्व द्रव्यों को अवकाश दे, वह आकाश है। इस प्रकार वह द्रव्य, जिसमें अन्य सभी द्रव्य स्थान या आश्रय ग्रहण करें, आकाश कहलाता है। आकाश से संयुक्त होकर भी जहाँ पदार्थ उसके स्वरूपगत गुणों से अप्रभावित होते हुए अपने मूल रूप में अवस्थित और अभिव्यक्त रहते हैं, वह आकाश है^६।

आकाश द्रव्य का स्वभाव जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म को स्थान (अवकाश) देना है^७। यह द्रव्य नित्य अवस्थित और अरूपी है, एक अखण्ड द्रव्य है और निष्क्रिय है^८। अवगाहन देना उसका उपकार है^९। जिसमें जीवादि द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायों के साथ प्रकाशमान हों तथा जो स्वयं अपने को प्रकाशित करे, वह आकाश है^{१०}। वृहद् नयचक्र के अनुसार^{११} जो चेतन रहित, अमूर्त, सर्व द्रव्यों को अवगाह देने वाला सर्वव्यापी है, वह आकाश द्रव्य है।

जैन दर्शन में आकाश द्रव्य रूपादि रहित, अमूर्त, निष्क्रिय तथा सर्वव्यापक द्रव्य है। लोकवर्ती समस्त पदार्थों को यह स्थान/अवगाह देता है तथा स्वयं भी उसमें अवगाहित होता है। यद्यपि जीव और पुद्गल भी एक-दूसरे को अवगाह देते हैं, किन्तु उन सबका आधार आकाश ही है।

जैन दर्शन में आकाश के दो प्रमुख भेद माने गये हैं—लोकाकाश तथा अलोकाकाश। धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव ये पाँच द्रव्य जिसमें हैं, वह लोकाकाश है। जिसमें ये पाँच द्रव्य नहीं हैं, वह अलोकाकाश है। लोकाकाश के आगे अलोकाकाश है। लोक और अलोकव्यापी सम्पूर्ण आकाश अनन्त प्रदेशी है, क्योंकि अलोक का अन्त नहीं है। परन्तु लोकाकाश का अन्त है। इसलिए वह असंख्यात-प्रदेशी है^{१२}। लोकाकाश एक, अखण्ड, सान्त और ससीम है। उसकी सीमा से परे अलोकाकाश एक और अखण्ड है तथा असीम-अनन्त तक फैला हुआ है। ससीम लोक चारों ओर से अनन्त अलोक से घिरा हुआ है।

वैज्ञानिकों में न्यूटन ने जैन दर्शन के समान ही आकाश को वास्तविक स्वरूप में स्वतन्त्र 'वस्तु सापेक्ष' स्वीकार किया है तथा उसे अगतिशील एवं अखण्ड शून्यता से युक्त माना है।

न्यूटन का मत^{१३}

आइन्स्टीन के सापेक्षता के सिद्धान्त (Theory of Relativity) से पूर्व वैज्ञानिक जगत् में 'आकाश और काल' सम्बन्ध एक सर्वमान्य सिद्धान्त था, जो कि सर आइजक न्यूटन (१६४२ ई. से १७२७ ई.) द्वारा सर्वप्रथम दिया गया। दार्शनिक ग्रेसेण्डी के आकाश सम्बन्धी विचारों से प्रभावित होकर न्यूटन ने इस

सिद्धान्त की स्थापना की थी। अपनी विश्वविख्यात पुस्तक प्रिंसिपिया (Principia) में आकाश और काल का विवेचन करते हुए न्यूटन ने लिखा है—‘निरपेक्ष आकाश, अपने स्वभाव और बाह्य किसी वस्तु की अपेक्षा बिना सदा एक सा और स्थिर रहता है, और काल के सम्बन्ध में निरपेक्ष, वास्तविक और गणितिक काल स्वभावतः किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा बिना सदा एक रूप से अपने आप बहता है।’ न्यूटन की इन व्याख्याओं से स्पष्ट हो जाता है कि न्यूटन ने वस्तुनिष्ठ रूप से आकाश और काल को स्वतन्त्र माना है। इनका अस्तित्व न तो ज्ञाता पर निर्भर है और न अन्य भौतिक पदार्थों पर, जिनको वे आश्रय देते हैं।

‘सभी वस्तुएँ आकाश में स्थान की अपेक्षा से रही हुई हैं’ न्यूटन के इस कथन का तात्पर्य यही है कि आकाश एक अगतिशील (स्थिर) आधार के रूप में है तथा उसमें पृथ्वी और अन्य आकाशीय पिण्ड रहे हुए हैं यह (आकाश) असीम विस्तार वाला है। चाहे वह किसी द्रष्टा (अथवा ज्ञाता) के द्वारा देखा जाय (अथवा अनुभव किया जाय) या नहीं और चाहे वह कोई पदार्थ द्वारा अवगाहित हो अथवा नहीं, इनकी अपेक्षा बिना स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में है और सदा से अस्तित्व में था। जो कुछ भी विश्व में हो रहा है, वह आकाश में हो रहा है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ आकाश में ही कहीं-न-कहीं रहा हुआ है और उसमें ही वह अपना स्थान परिवर्तन कर सकता है। न्यूटन के अनुसार आकाश की रचना में सातत्य है, अर्थात् आकाश ‘एक और अखण्ड’ तत्त्व है। सर्वत्र एकरूप है, अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थों द्वारा अवगाहित होने पर भी उनके गुणों में परिवर्तन नहीं आता है^{१५}।

न्यूटनीय भौतिक विज्ञान ने आकाश के साथ भौतिक ईथर का अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़कर गति की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया। यहाँ ईथर एक ऐसा भौतिक तत्त्व माना गया जो समग्र देश में व्याप्त है और जो प्रकाश-तरंगों के प्रसार में सहायक होती है। किन्तु प्रकाश तरंगों के प्रसार में सहायक ईथर की मान्यता को वैज्ञानिक अनुसन्धानों के आधार पर कालान्तर में माइकलसन और मौर्ले ने अस्वीकार कर दिया। निरपेक्ष देश-काल सम्बन्धी अवधारणा को न्यूटन के अतिरिक्त गैलेलियो ने भी स्वीकार किया। डेकार्ट, स्पिनोजा भी इसी मत को स्वीकार करते हैं। जी. डब्ल्यू. कर्निघम ने अपने पुस्तक Problems of Philosophy में इसी निरपेक्ष आकाश और काल को स्वीकार करते हुए लिखा है^{१६}—

‘The space of conception is pure, more or less indepen-

dent on material objects and so is readily thought of as one. Conceptual time is more or less independent.

अर्थात् देश और काल स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तर्क, अन्तःअनुभूति एवं विशिष्ट आत्मज्ञान के आलोक में निरूपित जैन दर्शन का आकाश सिद्धान्त वैज्ञानिकों के समक्ष एक सम्यक् प्रणाली उपस्थित करता है तथा न्यूटन की आकाश सम्बन्धी धारणाएँ जैन दर्शन विचारधारा के साथ अधिक सादृश्य रखती हैं।

सन्दर्भ-सूची

१. जैन दर्शन के नवतत्त्व, जैन साध्वी डॉ. धर्मशीला, पृ. ७९।
२. एकार्थक कोश-आचार्य तुलसी, पृ. २८८-२८९।
३. भगवती टीका-१४३१।
४. द्रव्यसंग्रह-१९।
५. राजवार्तिक-५/१/२२।
६. अनुयोगद्वार, मलधारीय टीका-६७।
७. तत्त्वार्थसूत्र-५/१८, पंचास्तिकाय-गा. १०।
८. वही-५/४।
९. वही-५/६।
१०. वही-५/१८।
११. राजवार्तिक-५/१.२१।
१२. नयचक्र वृहद्वृत्ति-९८।
१३. (क) पंचास्तिकाय-९१।
(ख) वृहद्द्रव्यसंग्रह-२०।
(ग) उत्तराध्ययन-३६.२।
१४. जैन दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन—डॉ. आनन्द त्रिपाठी, पृ. ८८-८९।
१५. जैन दर्शन और विज्ञान—जैन विश्वभारती इंस्टीट्यूट, लाडनूं, पृ. २४६-२४७।
१६. जैन दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन, डॉ. आनन्द त्रिपाठी—पृ. ९० पर उद्धृता।

बौद्ध परम्परा में सौन्दर्यशास्त्र का दर्शन

डॉ. रामकुमार गुप्त*

सौन्दर्यशास्त्र, सुन्दरता के विषयनिष्ठ तथा विषयीनिष्ठ लक्षण एवं स्वयं सुन्दरता की प्रकृति का प्रतिपादन करता है। नियामक विज्ञानों में सौन्दर्यशास्त्र तर्कशास्त्र की अपेक्षा नीतिशास्त्र के अधिक निकट है। आदिकाल से विचारक सुन्दरता तथा वस्तुओं के उस तत्त्व को, जो उन्हें सुन्दर बनाता है, आश्चर्य से देखते आ रहे हैं। सुन्दरता का एक प्रतिमान होता है जो हमारे जीवन को समृद्ध बनाने में योगदान देता है। लेकिन सौन्दर्य क्या है? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसे साधारण प्रश्नों की परिधि में नहीं गिना जा सकता। सौन्दर्य की समस्या का यही अवयव ऐसा है, जिसपर व्यापक विचार-विमर्श हुआ है तथा इनके अनेक समाधान प्रस्तुत किए गए हैं। हम जानते हैं कि सुन्दरता क्या है, किन्तु तभी तक जब तक हमसे पूछा नहीं जाता। सौन्दर्य बोध से आशय है—हृदय में करुणा की अनुभूति होना अर्थात् सहृदय होना। अन्यथा असहृदयी का सौन्दर्य सदैव आकाश-पुष्प की भाँति रहेगा। जैसे सन् २००० में सौन्दर्य से अनभिज्ञ असहृदयी जनों द्वारा बामियान की बुद्ध-प्रतिमा पर प्रहार करना। अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदय वे व्यक्ति हैं, जिनके मनरूपी मुकुर में वर्णनीय विषय के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता होती है। जैसे चीनी यात्री फाह्यान पाटलिपुत्र में मौर्य-प्रासाद के सौन्दर्य से चकाचौंध होकर उसे मानसिक शक्ति से निर्मित न मानकर उसे दैवीय शक्ति से निर्मित मान लेता है^१। इसी तरह मि. विलियम आर्चर के यूरोपीय मन को ताजमहल के सौन्दर्य ने इतना अधिक मोहित किया कि मि. आर्थर ने ताजमहल को इटली के किसी मूर्तिकार की रचना कह दिया^२।

देववाणी आचार्य माघ के अनुसार—वास्तविक सौन्दर्य वह है जो एक-सा रहे, फिर भी दर्शकों के लिए उसमें नित्य नवीनता का प्रस्फुटन हो^३। सौन्दर्य का विभाजन नहीं किया जा सकता है और न ही वह किसी व्यक्ति विशेष का अनुभव मात्र ही है, सौन्दर्य अखण्ड और अभिन्न है और अनुभव करने वाले अनेक हैं। सभी अपने-अपने सौन्दर्य-दृष्टि के अनुसार उसका अनुभव करते हैं

*रीडर, दर्शनशास्त्र-विभाग, टी.डी. पी.जी. कालेज, जौनपुर।

(जैसे मौर्य प्रासाद या ताजमहल का सौन्दर्य)।

निष्कर्षतः सौन्दर्य को पुष्प-पराग के समान कहा जा सकता है, जिसपर सहृदयजन स्वयमेव उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार पुष्प के सौरभ से मधुकर खिंचे चले आते हैं। अतः सौन्दर्य वस्तु का मोहनीकरण धर्म विशेष है, जो कान्ता के समान अपनी उपस्थिति मात्र से सहृदय जन को अभिभूत कर देता है। प्रसिद्ध आलंकारिक राजानक रुय्यक ने अपने 'सहृदयलीला' नामक ग्रन्थ में सहृदय जनों में सौन्दर्य-बोध के लिए दस गुणों की अपेक्षा किया है (जब कि अलंकार सात ही होते हैं), जिन्हें वात्स्यायन ने भी 'उत्तम नागरिक' बताया है।

सौन्दर्यशास्त्र का प्राचीन निरूपण तत्त्वमीमांसीय है। तत्त्वमीमांसीय निरूपण में सौन्दर्य को एक प्रकार का तत्त्व, सत्ता अथवा कम से कम वस्तुओं के विषयनिष्ठ पक्ष का प्रतिपादित किया गया है। प्लेटो ने अपने कुछ संवादों में सुन्दरता को तत्त्वमीमांसीय रूप से वस्तुओं के विषयनिष्ठ गुणों के रूप में ही बताया है। नव्य-प्लेटोवादी दार्शनिक प्लॉटिनस की सौन्दर्य-दृष्टि अध्यात्मवादी है, जिसके अनुसार जब परमतत्त्व अपनी पूर्ण दैवी सत्ता में चमकता या अभिव्यक्त होता है, वही सुन्दरता होती है। हीगल के नवीन तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण में सौन्दर्य निरपेक्ष प्रत्यय है, जो कुछ इन्द्रियजन्य माध्यम द्वारा प्रकाशित होता है। यह एक प्रकार का आत्म-प्रकाशन है। शॉपेनहावर के तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण के अनुसार जब हम समस्त इच्छाओं को त्याग देते हैं और 'जीवन की इच्छा' का बहिष्कार कर देते हैं तब हम इस आदर्श सौन्दर्य को देखने में समर्थ होते हैं, जिसे तर्कबुद्धि नहीं समझती। मार्शल के अनुसार सुन्दरता वस्तु के उन विशेष गुणों का नाम है, जिनके द्वारा वे हमें सौन्दर्यपरक गुण प्रदान करते हैं, क्योंकि सुन्दर वस्तु में एक प्रकार की मोह लेने की शक्ति होती है, जिससे सौन्दर्यपरक ध्यान में जीवात्मा स्वयं को भूल जाता है। यहाँ तक कि स्मृति की पुनर्चेतना में भी ये वस्तुएँ आनन्दायक होती हैं। सौन्दर्यशास्त्र का विषयीनिष्ठवादी तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण इटली के दार्शनिक बेनेडिटो क्रोचे का है, जिसका कथन है कि सौन्दर्य भौतिक वस्तुओं में नहीं होता, वह पूर्णतः मानसिक होता है, जिसके द्वारा हम अपनी अनुभूतियों को अन्तःप्रज्ञा में परिवर्तित कर देते हैं। कान्ट ने अपनी तृतीय महान कृति 'दि क्रिटिक ऑफ जजमेण्ट' में सौन्दर्यपरक सिद्धान्त को आधुनिक वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक विधि से नवीन दिशा प्रदान की है, जिसके अनुसार यद्यपि सुन्दरता मानसिक है, तथापि वह विषयनिष्ठ भी है, क्योंकि वह हमेशा निर्णय की जाने वाली वस्तु रहती है, जिसमें हम कहते हैं, 'यह बहुत सुन्दर है', और

इस प्रकार सुन्दरता को मात्र (विषयी) व्यक्तिनिष्ठ रुचि की वस्तु न मानकर उसे वस्तुओं के गुण के रूप में मानते हैं। हर्बर्ट सिडनी लैंगफेल्ड ने अपनी पुस्तक 'दि ऐसिथेटिक एटीट्यूड' में कहा है कि सौन्दर्य विषयीनिष्ठ न होकर, वस्तु में होते हैं और उनका मात्र अनुभव किया जाता है, न कि वे वस्तु पर आरोपित किये जाते हैं, जिन्हें दर्शक, श्रोता और पाठक सुन्दर वस्तुओं की उपस्थिति में धारण करता है। क्या वे जंगली फूल जो मनुष्य के भी आगमन के शताब्दियों पूर्व घास के मैदान पर खिले थे, आँख के सामने आने के पूर्व और उसकी प्रशंसा करने के पूर्व भी सुन्दर नहीं थे? क्या इन्द्रधनुष तभी सुन्दर होने लगा, जब से मनुष्य ने उसे सबसे पहले देखा था?

ज्ञातव्य है कि प्राचीन भारतीय शास्त्रों में सौन्दर्य वही सार्थक माना गया है, जो परमार्थ का साधक हो। परन्तु यूरोपीय विचारक सौन्दर्य का दो रूप मानते हैं—सुख प्रदायक सौन्दर्य (Pleasure Value of a thing) और प्रभावक सौन्दर्य (Influence Value of a thing)। सौन्दर्य का प्रस्फुटन—चाहे किसी माध्यम से क्यों न हो, किन्तु दुनियाँ के अधिकांश विचारक बाह्य सुन्दरता की अपेक्षा आन्तरिक सुन्दरता को ही वास्तविक सौन्दर्य मानते हैं। उदाहरणार्थ—तुलसीदास ने 'मानस' की रचना स्वान्तःसुखाय की थी, किन्तु तुलसी का सुख मानव-मात्र का सुख था, इसी से वह 'सर्वजन सुखाय' बन गया। इसलिए यदि सहृदयी जन में सौन्दर्य हो, तो वे अनेक सुन्दर तथा शुभ विचारों और सम्प्रत्ययों का सृजन करेंगे, जो बुद्धिमत्ता के असीम प्रेम से ओत-प्रोत होगा। जैसे सूरदास और मिल्टन अपने अन्तःचक्षु के द्वारा आन्तरिक सौन्दर्य को पद्य में अभिव्यक्त करके अमर हो गये। दूसरे शब्दों में ऐसे सहृदयी जन सत्य में या सत्य के द्वारा सौन्दर्य का दर्शन करते हैं। अन्ततः आन्तरिक सौन्दर्य से ओत-प्रोत सहृदयी व्यक्ति का रोम-रोम सर्वहित की भावना से परिपूर्ण होता है, कथनी-करनी में किसी स्तर पर भेद नहीं होता। उनका हृदय प्रेम, अहिंसा, सत्य-अभय और दया से युक्त होता है। अर्थात् उसके क्रिया-कलाप में सर्वहित की सार्वभौमता होती है। प्रकृति की भाषा की तरह सहृदयीजन को अपने प्रदर्शन में किसी भाष्यकार की अपेक्षा नहीं रहती। सौन्दर्य स्वतः स्फूर्त ढंग से स्वयमेव यह बताता है कि उसका मर्म क्या है? उसके बाह्य रूप-रंग को देखते ही उसकी अन्तरात्मा का साक्षात्कार होने लग जाता है। वस्तुतः शारीरिक सौन्दर्य का कोई मतलब नहीं होता। जैसे—परमात्मा के अनुपम सौन्दर्य का कोई रूप-रंग नहीं होता है, वैसे ही आन्तरिक सुन्दरता, प्रेम, करुणा, दया का भी कोई आकार नहीं, लेकिन जिसके पास यह 'है' उसे

प्रकृति में सबसे सुन्दर कहा जा सकता है और वे विशाल जन समूह को बदलने की क्षमता रखते हैं तथा वे भावी पीढ़ियों के लिए प्रकाश-स्तम्भ होते हैं। जैसे अष्टावक्र, चाणक्य, सुकरात इत्यादि में शारीरिक सौन्दर्य की कमी थी लेकिन उनके यश का सौरभ म्लान न होते हुए आज भी अक्षुण्ण है। जैसे—

१. ईसा मसीह और मोहम्मद साहब ने सत्य की खोज में जीवन बिताया और विशाल जनसमूह को उसकी सुन्दरता के दर्शन कराए। इस तरह दोनों का सौन्दर्य विश्वविश्रुत है, जबकि दोनों में से किसी ने भी सौन्दर्य शास्त्र पर कुछ भी नहीं लिखा।

२. सुकरात अपने समय का बहुत बड़ा सत्य-द्रष्टा था, जबकि कहा जाता है कि वह यूनान का सबसे कुरूप व्यक्ति भी था। तात्पर्य यह है कि सत्य का बाह्य रूप के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। सुकरात की सत्यनिष्ठा, उसका सत्यज्ञान, जीवन भर का ओज उसे सौन्दर्य का प्रतिमान सिद्ध करता है और तत्कालीन फिडियास जैसे चित्रकार ने भी, सुकरात का कुरूप चेहरा न देखकर, उसके भीतर के सत्य को समझा और उसकी प्रशंसा की, जबकि वह बाहरी सौन्दर्य को देखने और उसकी प्रशंसा करने का अभ्यस्त था।

भारतीय सौन्दर्य-दृष्टि, आध्यात्मिक संवेदनशीलता और आन्तरिक जिज्ञासा की प्रताड़ना से वशीभूत होकर अभिव्यक्त होती है। बौद्ध-परम्परा का सौन्दर्यशास्त्र का दर्शन भी भारतीयता से असंपृक्त नहीं है, क्योंकि इसका हेतु भी अन्दर की आध्यात्मिक अग्नि ही है, जो आज भी सहृदय जनों को 'अलौकिक प्रेम' की संवेदनशीलता से द्रवित कर रहा है। बौद्ध परम्परा का सारतत्त्व है, 'हर बात का कोई न कोई कारण होता है।' यह सूत्र ही 'शाक्य' मुनि के सौन्दर्य-दृष्टि का हेतु है। यह बोधगया के उरुबेला में सिद्धार्थ को अनिश्चय अवस्था में यायावर (बंजारिन) नारियों द्वारा प्रदान की गयी दीक्षा है, 'वीणा के तारों को अधिक ढीला न करो, नहीं तो वे न बजेंगे। वीणों के तारों को अधिक न खींचो, नहीं तो वे टूट जायेंगे।' सिद्धार्थ ने मध्यम मार्ग को अंगीकार किया (शरीर को अल्पाहार और अतिसुख से दूर रखा)। इसका साक्षात्कार सिद्धार्थ के 'महाभिनिष्क्रमण' से लेकर गौतम के निर्वाण प्राप्त होने की अवस्था के अनुशीलन से स्वयमेव हो जाता है।

महात्मा बुद्ध के अनुसार दुःख सत्य है। जर्मन दार्शनिक शॉपेनहावर का विचार है कि आन्तरिक वेदना को भोग-वृद्धि द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता है। उस महापीड़ा से मुक्ति का मार्ग लोकहित में स्वयं को समर्पित करने से मिलता

है। जहाँ सभी वेदनाओं के विस्मृत हो जाने के फलस्वरूप चित्त में अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। यह सामर्थ्य सौन्दर्य में है। यही बौद्ध परम्परा में अभिव्यक्त हुआ है। जहाँ शाक्य मुनि का वैयक्तिक दुःख, सांसारिक दुःख और उनकी अपने प्रति भावुकतापूर्ण करुणा, जगत् के लिए तीव्र करुणा के रूप में, मानव और सनातन सत्य के रूप में, अभिव्यक्त ही नहीं हुई है, बल्कि बौद्ध धर्म के आध्यात्मिक सौन्दर्य और इसके गम्भीरतम अर्थ की सत्योद्भासक निरूपणा भी हुई है।

ध्यातव्य है कि मौर्य शासक अशोक, गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त, कनिष्क और हर्ष के राजकीय संरक्षण में गौतम बुद्ध के अध्यात्म-सौन्दर्यात्मक सत्य के प्रस्फुटन का जो भी माध्यम-वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि के रूप में अंगीकार किया गया, इसका प्रभाव वर्णन करने की अपेक्षा अनुभव करने की वस्तु है। इसमें प्रस्फुटित जीवन अन्तरात्मा का जीवन है न कि प्राण-सत्ता और शरीर का जीवन। हाँ, वह एक आकार और सहायक संकेत के रूप में वहाँ अवश्य विद्यमान हैं, क्योंकि शाक्य मुनि के सौन्दर्य का लक्ष्य है-जीवन और प्रकृति चित्रण द्वारा (प्रथम आर्यसत्य) सत्ता की व्याख्या या बोधिमूलक अभिव्यक्त करना। जो हमारे भीतर होने वाले अन्तर्गान और साक्षात्कार के लिए ही गोचर, ज्ञेय और निकटस्थ है। बौद्ध परम्परा का सौन्दर्य-सूत्र है-‘एहिपस्सिको’ अर्थात् सबसे कहता है ‘आओ और देखो’। दूसरे शब्दों में-‘सबको उजाला करे, आप उजाला होय। यह विधि पीछे की तरफ किसी ऐसी वस्तु की ओर जाती है, जो आदि रूप से प्राचीन है और पुनः वह आगे किसी ऐसी वस्तु की ओर बढ़ती है जो भविष्य से सम्बन्ध रखती है। ऐसी सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्याभिरुचि का बोध अजन्ता की गुफाओं में प्रस्फुटित अनेक विशेष आकृतियों में होता है, जिसके कारण यह विश्व के समस्त भागों के सौन्दर्य प्रेमियों के लिए तीर्थस्थल बन गई है। जिसकी विषय-वस्तु केवल धार्मिक ही नहीं, प्रत्युत पृथ्वी, जल, चट्टानें, वनस्पति, पशु-पक्षी और मानव भी हैं। जिसमें सौन्दर्य-प्रस्फुटन चाहे किसी भी माध्यम से (भास्कर, तक्षण, चित्र) से क्यों न हुआ हो, वह उस आध्यात्मिक सौन्दर्य को प्रदीप्त करने में समर्थ है। उदाहरणार्थ-अजन्ता गुफा संख्या-१६ के ‘मृत्यु-शैय्या पर राजकुमारी’ नामक दृश्य (षड्यन्त्र जातक कथा प्रतिनिधित्व) करुणा, संवेदनशीलता और वास्तविकता की अभिव्यक्ति का हृदयस्पर्शी चित्रण है।

बौद्ध-परम्परा का विश्वविश्रुत आध्यात्मिक सारतत्त्व अजन्ता का ‘महाभिनिष्क्रमण’ नामक कृति दुःख और गम्भीर करुणा के भाव की अभिव्यक्ति में अनुपम है, जिसके सौन्दर्य विषयक भारतीय हेतु को समझने में अनभिज्ञ और

आध्यात्मिक भावावेश के स्थान पर प्राणिक भाव को अंगीकार करने के अभ्यस्त पश्चिमी विचारकों को इसमें शाक्य मुनि में विषादपूर्ण निर्णय का एक बोझ दृष्टिगोचर होता है, भावी सुख में निहित आशा के भाव के साथ गुंथे हुए आनन्द के जीवन को त्यागने की कटुता झलकती है। वस्तुतः यह उस मूलभाव को, जिसके साथ कि भारतीय मन नश्वर से अविनाशी की ओर मुड़ता है, ओझल करना है। बुद्ध के नेत्रों और ओष्ठों में जो भाव घने रूप में विद्यमान है, वह उनका अपना व्यक्तिगत दुःख नहीं है, बल्कि वह अन्य सबका दुःख है, अपने प्रति भावुकतापूर्ण करुणा नहीं, बल्कि जगत् के लिए तीव्र करुणा है, पारिवारिक आनन्द के जीवन के लिए परिताप नहीं, बल्कि मानवीय सुख के मिथ्यात्व की वेदनापूर्ण अनुभूति है और वहाँ जो उत्कण्ठा दृष्टिगोचर होती है वह निश्चय ही भावी पार्थिव सुख के लिए नहीं, निर्वाण के आध्यात्मिक मार्ग के लिए है। वहाँ पीड़ाकुल जिज्ञासा है, जिसका समाधान निर्वाण के सच्चे आनन्द में ही हुआ है और इसीलिए वहाँ अपरिमेय शान्ति और संयम दृष्टिगत होता है, जो दुःख को अवलम्ब-देते हैं।

निष्कर्षतः आध्यात्मिक सौन्दर्य ही बौद्ध परम्परा का सारतत्त्व है तथा अन्य लौकिक उपलब्धियाँ आध्यात्मिक प्रगति के अधीनस्थ हैं। आध्यात्मिक सौन्दर्य अन्य प्रवृत्तियों को पंगु बनाने वाला नहीं है; जैसी कि व्यर्थ की कल्पना की गयी है, बल्कि वह समग्र मानव के बहुमुखी विकास के लिए प्रकाश-स्तम्भ है जिससे प्रज्ञावान् उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से पतंगे आकृष्ट होते हैं। ज्ञातव्य है कि आध्यात्मिक सौन्दर्य का अन्वेषण स्वयं अपना प्रेरक है, न यश उसका प्रेरक है और न लाभ^{११}।

सन्दर्भ-सूची

१. लूनिया बी.एन., भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास, नारायण प्रकाशन, आगरा, १९६४, पृ.-१८५।
२. श्री अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी, १९८८, पृ.-२४७।
३. माघ, शिशुपालवध, क्षण-क्षणे यन्नवतामुपैति। तदैव रूपं रमणीयताया।
४. चेन्डलर अल्बर्ट आर., 'दि नेचर ऑफ एस्थेटिक आब्जेक्टिविटी'।
५. द्विवेदी हजारी प्रसाद, अशोक के फूल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९९०, पृ. १०८।
६. शॉपेनहावर, दि मेटाफिजिक्स ऑफ दि ब्यूटीफुल एण्ड एस्थेटिक्स, पृ. २७४-३१८।

४८ : श्रमण, वर्ष ६०-६१, अंक ४, १ / अक्टू.-दिसम्बर ०९-जन.-मार्च-१०

७. मार्शल, हेनरी रुटर्स, ऐथेटिक प्रीन्सपुल्स (दि मैकमिलन कम्पनी)।
८. बेनेडिटो क्रोचे, 'ऐस्थेटिक', डगलस आइन्सली द्वारा अनुदित।
९. लैंगफेल्ड हर्बर्ट सिडनी, दि ऐथेटिक एटीट्यूड, (हारकोर्ट, ब्रेस एण्ड कम्पनी),
पृ. ११०-१११।
१०. डॉ. पाण्डे राजेन्द्र, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, उ.प्र. हिन्दी संस्थान,
लखनऊ, २००२, पृ. ७८।
११. सुरेश्वरानन्द, नैष्कर्म्यसिद्धिः, १.६।

*

जैन आगमों में वर्णित शासन-व्यवस्था

डॉ. अरुणिमा रानी*

श्रमण धर्म के अनुयायी होने के कारण जैन विद्वानों ने यद्यपि तप, त्याग और वैराग्य के ऊपर ही जोर दिया तथापि जैन आगमों में शासन-सम्बन्धी जो जानकारी मिलती है वह तत्कालीन समाज को चित्रित करने के लिए पर्याप्त है। जैन आगमों में यत्र-तत्र बिखरी हुई शासन सम्बन्धी जानकारी का दिग्दर्शन कराना प्रस्तुत शोध-पत्र का विषय है। विवेच्य विषय है—जैन आगमों में राजा व उसके प्रधान पुरुषों के क्या कर्तव्य हैं? तत्कालीन दण्डनीति कैसी थी? शासन-व्यवस्था में परिषदों की क्या भूमिका थी? उस समय का गुप्तचर तन्त्र कितना दृढ़ था? अन्तःपुर के रक्षकों के रूप में किसे नियुक्त किया जाता था? राजा का उत्तराधिकारी कौन होता था? पुत्रविहीन राजा के उत्तराधिकारी की खोज करने में कौन से तरीके काम में लाए जाते थे? इत्यादि।

१. राजा के कर्तव्य—निशीथभाष्य^१ में लिखा है कि राजा को सर्वगुणसम्पन्न होना चाहिए। यदि वह स्त्रियों में आसक्त रहता है, द्यूत रमण करता है, मद्यपान करता है, शिकार में समय व्यतीत करता है, कठोर वचन बोलता है, कठोर दण्ड देता है और धन सञ्चय के लिए प्रयत्नशील नहीं रहता तो वह नष्ट हो जाता है। व्यवहारभाष्य^२ में राजा के मातृपक्ष व पितृपक्ष के शुद्ध होने पर जोर दिया गया है। वह लोकाचार, वेद और राजनीति में कुशल और धर्म में श्रद्धावान् होना चाहिए। उसे प्रजा से दसवाँ हिस्सा कर (टैक्स) लेकर सन्तुष्ट रहना चाहिए। औपपातिक सूत्र में चम्पा के राजा कूणिक अजातशत्रु के विषय में एक कथा उल्लिखित है। चम्पा का राजा कूणिक महाप्रतापी क्षत्रिय राजा था। वह अत्यन्त विशुद्ध, चिरकालीन राजवंश में प्रसूत, राजलक्षणों से युक्त, बहुजन सम्मानित, सर्वगुण समृद्ध, राज्याभिषिक्त और दयालु था। वह सीमा का प्रतिष्ठाता, क्षेमकारक और जनपद का पालक था। दान-मान आदि से वह लोगों को सम्मानित करता था। वह धन-धान्य, सुवर्ण, रुप्य, भवन, शयन, आसन, यान, वाहन, दासी, गाय, भैंस, माल-खजाना, कोठागार और शास्त्रागार आदि से सम्पन्न था^३। इस कथा

* प्रवक्ता संस्कृत विभाग, एस.डी. महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर

का सार यह है कि शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए राजा का सुयोग्य होना आवश्यक है।

२. राजा के प्रधान पुरुष-जैन ग्रन्थों में राजा, युवराज, अमात्य, श्रेष्ठि और पुरोहित-ये पाँच प्रधान पुरुष बताए गए हैं। युवराज राजा का भाई, पुत्र अथवा अन्य कोई सगा-सम्बन्धी होना चाहिए। वह अणिमा, महिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त हो। बहत्तर कलाओं, अट्टारह देशी भाषाओं, गीत, नृत्य तथा हस्तियुद्ध, अश्वयुद्ध, मुष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध, रथयुद्ध, धनुर्वेद आदि में वह निपुण होवे। राजा के प्रधान पुरुषों में मन्त्री का स्थान सबसे महत्त्व का है। वह जैसे भी हो, शत्रु को पराजित कर, राज्य की रक्षा के लिए सतत् प्रयत्नशील रहे। आवश्यकचूर्णि में एक कथा के माध्यम से यह समझाया गया है कि कभी-कभी कूटनीति से राजा मन्त्री को झूठ-मूठ ही सभासदों के सामने अपमानित कर राज्य से निकाल दे। मन्त्री विपक्षी राजा से जा मिले फिर वहाँ शनैः-शनैः उसका विश्वास प्राप्त करे। इस प्रकार की कूटनीति विपक्षी राजा को पराजित करने में काम आती है। व्यवहारभाष्य में लिखा है कि मन्त्री अपने जनपद, नगर और राजा के सम्बन्ध में सदा चिन्तित रहे और व्यवहार व नीति में निपुण रहे। यही बात कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी कही गई है। ज्ञातृधर्मकथा में एक कथा आती है-‘राजा श्रेणिक का प्रधानमन्त्री अभय कुमार शाम, दाम, दण्ड और भेद में कुशल, नीतिशास्त्र में पण्डित, गवेषणा आदि में चतुर, अर्थशास्त्र में विशारद तथा औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिक और पारिणामिकी नामक चार प्रकार की बुद्धियों में निष्णात था। राजा श्रेणिक उससे अपने अनेक कार्यों और गुप्त रहस्यों के बारे में मन्त्रणा किया करता था। आवश्यकचूर्णि व निशीथचूर्णि में एक कथा के माध्यम से समझाया गया है कि मन्त्री विशेष परिस्थितियों में अयोग्य राजा को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे राजा को गद्दी पर बैठा सकता था।’ श्रेष्ठी (णिगमारक्खिअ = नगरसेठ) अट्टारह प्रकार की प्रजा का रक्षक कहलाता था। राजा द्वारा मान्य होने के कारण उसका मस्तक देव मुद्रा से भूषित सुवर्णपट्ट से शोभित रहता था। राजा के प्रधान पुरुषों में पुरोहित की भी आवश्यकता रहती थी। विपाकसूत्र में जितशत्रु राजा के महेश्वर दत्त नामक पुरोहित का उल्लेख मिलता है। मिलिन्दप्रश्न में राजपुरुषों में सेनापति, पुरोहित, अक्खदस्स, भण्डागारिक, छत्तगाहक और खग्गाहकों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त ग्राममहत्तर, राष्ट्रमहत्तर, रट्टुडड़ (राठौड़^३), गणनायक, दण्डनायक, तलवर^४ कोट्टपाल (णगरक्खिअ) कौटुम्बिक, गणक (ज्योतिषी), वैद्य,

सार्थवाह, संधिपाल, पीठमर्द, महावत, यानशालिक, विदूषक, दूत, चेट, वार्तानिवेदक, किंकर, कर्मकर, असिग्राही, धनुग्राही, कोतग्राही, छत्रग्राही, चामरग्राही, वीणाग्राही, भाण्ड, अभ्यंग लगाने वाले, उबटन मलने वाले, स्नान कराने वाले, वेशभूषा से मण्डित करने वाले, पैर दबाने वाले आदि कितने ही कर्मचारी राजा की सेवा में उपस्थित रहते थे।

दण्डनीति—जैन आगमों में सात प्रकार की दण्डनीति बतायी गयी है। पहले और दूसरे कुलकर के समय हक्कार नीति प्रचलित थी, अर्थात् किसी अपराधी को 'हा' कह देने मात्र से वह दण्ड का भागी हो जाता था। तीसरे और चौथे कुलकर के काल में 'मा' (मत) कह देने से वह दण्डित समझा जाता था, इसे मक्कार नीति कहा गया है। पाँचवें और छठे कुलकर के समय धिक्कार नीति का चलन हुआ। तत्पश्चात्, ऋषभदेव के काल में परिभाषण (क्रोध प्रदर्शन द्वारा ताड़ना) और परिमण्डलबंध (स्थानबद्ध कर देना), तथा उनके पुत्र भरत के काल में चारक (जेल) और छविच्छेद (हाथ, पैर, नाक आदि का छेदन) नामक दण्डनीतियों का प्रचार हुआ^{५५}।

परिषद्—केन्द्रीय शासन की व्यवस्था में परिषदों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जैन आगमों में पाँच प्रकार की परिषदों का उल्लेख मिलता है—(१) पूरयन्ती परिषद्, (२) छत्रवती परिषद्, (३) बुद्धि परिषद् (४) मन्त्री परिषद्, (५) राहस्यिकी परिषद्। राजा जब यात्रा के लिए बाहर जाता और जब तक वापस लौट कर न आ जाता, तब तक राज-कर्मचारी उसकी सेवा में उपस्थित रहते थे। इस परिषद् को पूरयन्ती परिषद् कहा गया है। छत्रवती परिषद् के सदस्य राजा के सिर पर छत्र धारण करते थे और राजा की बाह्यशाला तक वे प्रवेश कर सकते थे, उसके आगे नहीं। बुद्धि परिषद् के सदस्य लोक, वेद और शास्त्र के पण्डित होते थे, लोक-प्रचलित अनेक प्रवाद उनके पास लाये जाते थे, जिनकी वे छानबीन करते थे। चौथी परिषद् मन्त्री-परिषद् कही जाती थी। इस परिषद् के सदस्य कौटिल्य आदि राजशास्त्रों के पण्डित होते थे, और उनके पैतृक वंश का राजकुल से सम्बन्ध नहीं होता था। ये हित चाहने वाले, वयोवृद्ध तथा स्वतन्त्र विचारों के होते थे और राजा के साथ एकान्त में बैठकर मन्त्रणा करते थे। पाँचवीं परिषद् का नाम है—राहस्यिकी परिषद्, यदि कभी रानी राजा से रूठ जाती, या कोई राजकुमारी विवाह के योग्य होती, तो इन सब बातों की सूचना राहस्यिकी परिषद् के सदस्य राजा के पास पहुँचाते थे। रानियों के गुप्त प्रेम तथा रतिकर्म की सूचना भी ये लोग राजा को देते रहते थे^{५६}।

गुप्तचर तन्त्र—व्यवहारभाष्य में चार प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख मिलता है—(१) सूचक, (२) अनुसूचक, (३) प्रतिसूचक, (४) सर्वसूचक।

आन्तरिक उपद्रवों और बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करने के लिए मन्त्रीगण गुप्तचरों को धन आदि देकर नियुक्त करते थे। सूचक अन्तःपुर के रक्षकों के साथ मैत्री करके अन्तःपुर के रहस्यों का पता लगाते थे, अनुसूचक नगर के परदेशी गुप्तचरों की तलाश में रहते थे, प्रतिसूचक नगर के द्वार पर बैठकर दर्जी आदि का छोटा-मोटा काम करते हुए दुश्मन की घात में रहते थे तथा सर्वसूचक, सूचक, अनुसूचक और प्रतिसूचक से सब समाचार प्राप्त कर अमात्य से निवेदित करते थे। ये गुप्तचर कभी पुरुषों और कभी महिलाओं के रूप में सामन्त राज्यों और सामन्त नगरों तथा अपने राज्य, अपने नगरों और राजा के अन्तःपुर में गुप्त रहस्यों का पता लगाने के लिए घूमते रहते थे^{१५}।

अन्तःपुर के रक्षक—जिस प्रकार कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वृद्धा स्त्रियों और नपुंसकों से अन्तःपुर की रक्षा करने का विधान किया है^{१६} उसी प्रकार जैन आगमों में भी नपुंसक और वृद्ध पुरुष का अन्तःपुर की रक्षा के लिए तैनात होने का उल्लेख मिलता है। कंचुकी को राजा के महल में आने-जाने की छूट थी। वह विनीत वेष धारण करता तथा राजा की आज्ञापूर्वक अन्तःपुर की रानियों के पास राजा का सन्देश लेकर और रानियों का संदेश राजा के पास लेकर जाता था^{१७}। महत्तर अन्तःपुर का एक अन्य अधिकारी होता था। रानियों को राजा के पास लाना, उनके कोप को शान्त करना तथा कोप का कारण ज्ञात होने पर राजा से निवेदन करना उसका मुख्य कार्य था। दण्डधर हाथ में दण्ड धारण कर अन्तःपुर का पहरा देते रहते थे, दण्डारक्षिक राजा की आज्ञा से किसी स्त्री अथवा पुरुष को अन्तःपुर में ले जाते थे तथा दौवारिक द्वार पर बैठकर अन्तःपुर की रक्षा करते थे^{१८}।

युवराज और उसका उत्तराधिकार—राजा का पद साधारणतया वंश परम्परागत माना गया है। जैन आगमों में सापेक्ष और निरपेक्ष नामक दो प्रकार के राजा बताये गये हैं। सापेक्ष राजा अपने जीवनकाल में ही अपने पुत्र को युवराज पद दे देता था जिससे राज्य की गृहयुद्ध आदि संकटों से रक्षा हो जाये। निरपेक्ष राजा के सम्बन्ध में यह बात नहीं थी। उसकी मृत्यु के बाद ही उसके पुत्र को राजा बनाया जाता था^{१९}।

यदि राजा के एक से अधिक पुत्र होते तो उनकी परीक्षा की जाती, और जो राजपुत्र परीक्षा में सफल होता, उसे युवराज बनाया जाता। किसी राजा ने

अपने तीन पुत्रों की परीक्षा के लिए उनके सामने खीर की थालियाँ परोसकर रक्खी और जंजीर में बँधे हुए भयंकर कुत्तों को उन पर छोड़ दिया। पहला राजकुमार कुत्तों को देखते ही खीर की थाली छोड़कर भाग गया। दूसरा उन्हें लकड़ी से मार-मारकर स्वयं खीर खाता रहा। तीसरा स्वयं भी खीर खाता रहा और कुत्तों को भी उसने खिलाई राजा तीसरे राजकुमार से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने उसे युवराज बना दिया^{२३}। कभी राजा की मृत्यु हो जाने पर जिस राजपुत्र को राजसिंहासन पर बैठने का अधिकार मिलता, और यदि वह दीक्षा ग्रहण कर लेता, तो इस हालत में उसके कनिष्ठ भ्राता को राजा के पद पर बैठाया जाता^{२४}। कभी दीक्षित राजपुत्र संयम धारण करने में अपने आपको असमर्थ पा, दीक्षा त्यागकर, वापस लौट आता, और उसका कनिष्ठ भ्राता उसे अपने आसन पर बैठा, स्वयं उसका स्थान ग्रहण करता।

साकेत नगरी में कुण्डरीक और पुंडरीक नाम के दो राजकुमार रहा करते थे। कुंडरीक ज्येष्ठ था और पुंडरीक कनिष्ठ। कुंडरीक ने श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर ली, लेकिन कुछ समय बाद संयम पालन में असमर्थ हो, दीक्षा छोड़ वह वापस लौट आया। यह देखकर उसका कनिष्ठ भ्राता उसे अपने पद पर बैठा, स्वयं श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया^{२५}। कभी राजा युवराज का राज्याभिषेक करने के पश्चात् स्वयं संसार-त्याग करने की इच्छा व्यक्त करता, लेकिन युवराज राजा बनने से इंकार कर देता और वह भी अपने पिता के साथ दीक्षा ग्रहण कर लेता था। पृष्ठ-चम्पा में शाल नाम का राजा राज्य करता था, उसका पुत्र महाशाल युवराज था। जब शाल ने अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बैठाकर स्वयं दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की तो महाशाल ने राजपद अस्वीकार कर दिया और अपने पिता के साथ वह भी दीक्षित हो गया^{२६}।

यदि राजा और युवराज दोनों ही राजपाट छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर लेते थे और उनकी कोई बहन होती और उसका पुत्र इस योग्य होता तो उसे राजा के पद पर अभिषिक्त किया जाता था। उपर्युक्त कथा में शाल और महाशाल के दीक्षा ग्रहण कर लेने पर, उनकी बहन के पुत्र गगालि को राजसिंहासन पर बैठाया गया^{२७}। सोलह जनपदों, तीन सौ तिरसठ नगरों और दस मुकुटबद्ध राजाओं के स्वामी वीतिभय के राजा उद्गायण ने अपने पुत्र के होते हुए भी केशी नाम के अपने भानजे को राजपद सौंपकर महावीर के पादमूल में जैन दीक्षा स्वीकार की^{२८}।

राज्य-शासन की व्यवस्थापिका स्त्रियों के उल्लेख, एकाध को छोड़कर, प्रायः नहीं मिलते। महानिशीथ में किसी राजा की एक विधवा कन्या की कथा

आती है, जो अपने परिवार की कलंक से रक्षा करने के लिए सती होना चाहती थी। लेकिन राजकुल में सती होने की प्रथा नहीं थी, इसलिए राजा ने उसे रोक दिया। इसके बाद राजा की मृत्यु हो जाने पर जब कोई उत्तराधिकारी न मिला तो उस विधवा कन्या को राजपद (इत्थिनरिंद) दिया गया^{२८}।

पुत्रविहीन राजा के उत्तराधिकारी की खोज-उत्तराधिकारी खोज निकालने के लिए यथासम्भव सभी प्रकार के उपाय काम में लिए जाते थे। इस सम्बन्ध में बृहत्कल्पभाष्य में एक मनोरंजक कथा आती है। किसी राजा के तीन पुत्र थे। तीनों ही ने दीक्षा ग्रहण कर ली। संयोगवश कुछ समय बाद राजा की मृत्यु हो गयी। मन्त्रियों ने राजलक्षणों से युक्त किसी पुरुष को खोजना आरम्भ किया, लेकिन सफलता न मिली। इतने में पता चला कि उक्त तीनों राजकुमार मुनिवेश में विहार करते हुए नगर के उद्यान में ठहरे हुए हैं। मन्त्रीगण छत्र, चामर और खड्ग आदि उपकरणों के साथ उद्यान में पहुँचे। राजपद स्वीकार करने के लिए तीनों से निवेदन किया गया। पहले ने दीक्षा त्याग कर संसार में पुनः प्रवेश करने से मना कर दिया, दूसरे को आचार्य ने साध्वियों के किसी उपाश्रय में छिपा दिया। लेकिन तीसरे ने संयम के पालन करने में असमर्थता व्यक्त की। मन्त्रियों ने उसे नगर में ले जाकर उसका राजतिलक कर दिया^{२९}।

ऐसी स्थिति में उत्तराधिकारी चुनने का एक और भी तरीका था। नगर में एक दिव्य घोड़ा घुमाया जाता और वह घोड़ा जिसके पास जाकर ठहर जाता उसे राजपद पर अभिषिक्त कर दिया जाता। पुत्रविहीन वेन्यातट के राजा की मृत्यु होने पर उसके मन्त्रियों को चिन्ता हुई। वे हाथी, घोड़ा, कलश, चामर और दण्ड इन पाँच दिव्य पदार्थों को लेकर किसी योग्य पुरुष की खोज में निकले। कुछ दूर जाने पर उन्होंने देखा कि मूलदेव एक वृक्ष की शाखा के नीचे बैठा हुआ है। उसे देखते ही हाथी ने चिग्घाड़ मारी, घोड़ा हिनहिनाने लगा, कलश जल के द्वारा उसका अभिषेक करने लगा, चमर उसके सिर पर डोलने लगा और दण्ड उसके पास जाकर ठहर गया। यह देखकर राजकर्मचारी जय-जयकार करने लगे। मूलदेव को हाथी पर बैठाकर धूमधाम से नगर में लाया गया तथा मन्त्रियों और सामन्त राजाओं ने उसे राजा घोषित किया^{३०}। राजकुमार करकण्डु के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की कथा है। घोड़ा राजकुमार की प्रदक्षिणा करने के बाद उसके सामने आकर खड़ा हो गया। तत्पश्चात् नागरिकों ने उसके शरीर पर राजलक्षणों को देख जय-जयकार किया, फिर नन्दिघोष सुनाई देने लगा। घोष सुनकर करकण्डु नींद से उठ बैठा। गाजे-बाजे के साथ उसने नगर में प्रवेश किया और उसे कांचनपुर

का राजा घोषित कर दिया गया^{११}। इसी तरह नापित-दास नन्द की ओर घोड़ा पीठ करके खड़ा हो गया और उसे पाटलिपुत्र का राजा बना दिया गया^{१२}।

इस प्रकार जैन आगमों में कौटिल्य अर्थशास्त्र की भाँति शासन-व्यवस्था सम्बन्धी विधि-विधानों का व्यवस्थित उल्लेख नहीं मिलता। जो कुछ संक्षिप्त उल्लेख प्राप्त होता है वह केवल कथा-कहानियों के रूप में ही है। ये कथा-कहानियाँ साधारणतया तत्कालीन सामान्य जीवन का सम्यक् चित्रण करती हैं।

सन्दर्भ-सूची

१. निशीथभाष्य, १५.४७.४९।
२. व्यवहारभाष्य १, पृ. १२८।
३. औपपातिक सूत्र ६, पृ. २०।
४. औपपातिक सूत्र ४०, पृ. १८५।
५. आवश्यकचूर्णि २, पृ. २००।
६. सजणवयं पुरवरं चिततो अत्थइ नरवतिं चा ववहारनीतिकुसलो, अमच्चो एयारिसो अहवा॥ -व्यवहारभाष्य पृ. १३१।
७. कौटिल्य, अर्थशास्त्र १.८-९, ४-५।
८. ज्ञातृधर्मकथा १, पृ. ३।
९. (अ) आवश्यकचूर्णि, पृ. ५३४, (ब) निशीथचूर्णि ११.३७३५ चूर्णि।
१०. (अ) बृहत्कल्पभाष्य, ३.३७५७ वृत्ति, (ब) राजप्रश्नीयटीका, पृ. ४०।
११. विपाकसूत्र, पृ. ३३।
१२. मिलिन्दप्रश्न, पृ. ११४।
१३. निशीथभाष्य, ४.१७३५।
१४. रायप्रतिमो चामरबिरहितो तलवरो भण्णति। निशीथभाष्य, ९.२५०२
१५. जम्बूद्वीपप्रज्ञति, २.२९; स्थानांगसूत्र ७.५५७।
१६. बृहत्कल्पभाष्य पीठिका, ३७५-३८३।
१७. व्यवहारभाष्य १, पृ. १३०-अ इत्यादि। महाभारत (शान्तिपर्व ६८०.१२) में गुप्तचरों की नियुक्ति राजा का प्रमुख कर्तव्य माना गया है। उन्हें नगरों, प्रान्तों और सामन्त प्रदेशों में नियुक्त करने का विधान है। इसी विषय में द्रष्टव्य है— अर्थशास्त्र, १.११-१२.७-८।
१८. अर्थशास्त्र, १.२१.१७.३१।
१९. निशीथचूर्णि, ९.२५१५-१६, पृ. ४५२, वाचस्पति ने अपने कोष में कंचुकी के लक्षण बताते हुए कहा है—अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलो कंचुकीत्यभिधीयते॥

५६ : श्रमण, वर्ष ६०-६१, अंक ४, १ / अक्टू.-दिसम्बर ०९-जन.-मार्च-१०

२०. औपपातिकसूत्र ९, पृ. २५।
२१. व्यवहारभाष्य, २.३२७।
२२. व्यवहारभाष्य, ४.२०९ तथा ४.२६७।
२३. उत्तराध्ययनटीका १८, पृ. २४६।
२४. ज्ञातृधर्मकथा, १९।
२५. उत्तराध्ययनटीका १०, पृ. १५३-आ।
२६. उत्तराध्ययनटीका १०, पृ. १५३-आ।
२७. व्याख्याप्रज्ञप्ति, १३.६।
२८. महानिशीथ, पृ. ३०।
२९. (अ) बृहत्कल्पभाष्य, ३.३७६०-७१ तथा (ब) व्यवहारभाष्य, ३.१९२,
पृ. ४०।
३०. उत्तराध्ययनटीका ३, पृ. ६३-आ।
३१. उत्तराध्ययनटीका ९, पृ. १३४।
३२. आवश्यकचूर्णि २, पृ. १८०।

*

जैनसाधनापद्धति : मनोऽनुशासनम्

डॉ. हेमलता बोलिया*

साधना वह वैचारिक प्रक्रिया, सामाजिक आचरण अथवा धार्मिक अनुशासन है जिसके अभ्यास द्वारा हम अपने व्यक्तित्व को सार्थक करते हुये, अपने ध्येय को प्राप्त करना चाहते हैं। 'साधना' शब्द की निष्पत्ति 'सिध्' से प्रेरणार्थ में 'णिच्' प्रत्यय लगने पर धातु को 'साध्' आदेश हुआ तथा 'साध्' से भावकर्मार्थ 'युच्' प्रत्यय और स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय लगकर हुई है* जिसका अर्थ है पूजा, अर्चना, संराधन या प्रसादन। मानवीय क्षमता के विकास को ध्यान में रखकर तत्त्ववेत्ता महापुरुषों ने खान-पान से लेकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होने वाली क्रियाओं पर सूक्ष्म विचार किया। प्रत्येक क्रिया को धर्ममय कहकर उसे सावधानी पूर्वक सचेत रूप से करने का निर्देश दिया। इस प्रकार आचार्यों द्वारा निर्देशित सम्पूर्ण जीवन ही साधना बन गया।

साधना को आचार्यों ने तीन भागों में विभाजित किया है। (१) भौतिक साधना, (२) नैतिक साधना और (३) आध्यात्मिक साधना। भौतिक साधना के अन्तर्गत वे सब वस्तुएँ आती हैं जो शरीर संरचना से लेकर संरक्षण पर्यन्त उपयोगी हैं। इसमें शरीरशुद्धि शरीर की आवश्यकता एवं उपभोग की वस्तु की प्राप्ति के लिये किया गया प्रयास भी सम्मिलित है। नैतिक साधना का क्षेत्र व्यक्ति से बढ़कर समाज तक जाता है। सामाजिक दायित्वों का निर्वाह एवं मर्यादाओं के पालन में प्रयोग होने वाले व्रत, मैत्री आदि भावना, परस्पर उपग्रह नैतिक साधना के अंग हैं। आध्यात्मिक साधना में व्यक्ति शरीर एवं सामाजिक मर्यादाओं से ऊपर उठकर आत्मस्वरूप की उपलब्धि को अपना लक्ष्य बनाता है। आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि के प्रयोग इसी क्षेत्र के विषय हैं।

आध्यात्मिक साधना को प्रायः सभी धर्मों और दार्शनिक सम्प्रदायों ने महत्त्व दिया तथा अपने-अपने दृष्टिकोण एवं सरणि के अनुसार ज्ञान, जगत् से विराग, आत्मस्वरूप में विलय अथवा प्राप्ति हेतु विभिन्न साधना मार्ग भी सुझाये। मैत्रायणी उपनिषद्^३ में साधना की इस पद्धति को योग नाम देते हुये उसके छः अंगों का

* अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

विवेचन किया गया है—(१) प्राणायाम, (२) प्रत्याहार, (३) ध्यान, (४) धारणा, (५) तर्क, (६) समाधि। महर्षि पतञ्जलि ने इसमें यम, नियम और आसन नामक तत्त्वों को जोड़ा तथा तर्क को हटाकर योग को अष्टांग बना दिया।

जैनसाधना पद्धति के सूत्र आगमों में भी मिलते हैं जहाँ शुद्ध सात्त्विक जीवन का आधार त्रिरत्न को माना गया है। जैन दर्शन का भव्य प्रासाद सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र इन्हीं तीन आधारों पर अवस्थित है। फिर तप को चारित्र के एक अतिरिक्त अंग के रूप में सम्मिलित कर इसे चतुष्पद बना दिया गया। जैन साधना वीतरागता को प्रमुखता देती है। अतः वह सांसारिक आकर्षण को कषाय का स्वरूप मानते हुये साधक को इनसे बचने की सलाह देती है। यह व्यवहार और निश्चय के रूप में तो द्विविधा है ही परन्तु श्रमण धर्म श्रावक धर्म के रूप में भी द्विविधा है। जिसे सर्वविरति और देशविरति के रूप में व्याख्यायित किया गया है। मुनि नथमल (वर्तमान आचार्य महाप्रज्ञ) के शब्दों में—‘साधना का क्रम प्राप्त मार्ग यह है कि हम पहले असत्प्रवृत्ति से हटकर सत्प्रवृत्ति की भूमिका में आएँ और फिर निवृत्ति की भूमिका को प्राप्त करें’।

तप साधना के विकास क्रम में जैन, बौद्ध और शैव दर्शन छठी-सातवीं शताब्दी के मध्य योग के समीप आए। बौद्धों में वज्रयानशाखा तन्त्र-मंत्र साधना द्वारा लोक-परलोक विजय की कामना करने लगी, तो शैवों में पातञ्जल योग का सहारा लेकर हठयोग की प्रवृत्ति बनी। सिद्ध और नाथों की परम्परा के समकाल में ही जैन आचार्यों ने जैन योग की दृष्टि से विचार करना प्रारम्भ किया। तप के अन्तर्गत पंचमहाव्रत, द्वादशव्रत और अनुप्रेक्षा को ध्यान में रखते हुए जैन साहित्य में यौगिक क्रियाओं का साहित्यिक और प्रात्यक्षिक अनुप्रयोग होने लगा।

जैन योग की परम्परा को व्यवस्थित रूप आचार्य हरिभद्र ने दिया। उन्होंने योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय आदि यौगिक ग्रन्थों की रचना कर योग को एक नया रूप दिया। पतञ्जलि के अष्टांगयोग की भाँति आठदृष्टियों की चर्चा की तथा मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में धर्म व्यापार को मानकर अध्यात्म भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय रूप योग के पाँच भेद किए। आचार्य देवनंदि पूज्यपाद ने इष्टोपदेश, समाधितन्त्र, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र, शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव, श्री नागसेनमुनि ने तत्त्वानुशासन, यशोविजय ने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, मंगलविजय ने योगप्रदीप, अमितगति ने योगसारप्राभृत, सोमदेवसूरि ने योगमार्ग, आचार्य भास्करनंदि ने ध्यानस्तव तथा योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाशयोगसार की रचना कर जैन योग की परम्परा को समृद्ध किया।

तेरापंथ के नवम् आचार्य तुलसी का महत्त्व सर्वातिशायी है। वे तत्त्ववेत्ता-मनीषी, चिन्तक, साधक शिक्षाशास्त्री, धर्माचार्य, बहुभाषाविज्ञ, समाजसुधारक, आशुकवि, प्रकाण्डपण्डित और दार्शनिक थे। इन्होंने जैनसिद्धान्तदीपिका, भिक्षुन्याय-कणिका, पंचसूत्रम्, शिक्षाषण्णवति तथा कर्तव्यषट्त्रिंशिका का ही प्रणयन नहीं किया अपितु योग एवं मन को अनुशासित करने के लिये आचार्य ने 'मनोऽनुशासन' की रचना की। मनोऽनुशासन की रचना में दर्शनशास्त्र में बहु प्रचलित सूत्र शैली का आश्रय ग्रहण किया गया है। सूत्र शैली की विशेषता यह है कि इसमें गूढ़ से गूढ़ भावों को कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है। सूत्रकार विषय की संक्षिप्तता का इतना ध्यान रखते हैं कि किसी बात को कहने में यदि वे एक शब्द भी कम प्रयोग कर सकें तो यह उनके लिये उतना ही सुखकारक होता है, जितना पुत्रोत्सव होता है। आचार्य के सूत्र कण्ठस्थ करने के लिये उपयोगी होते हैं, उन्हीं सूत्रों की व्याख्या कर, वे अपने विषय को कितना भी विस्तार दे सकते हैं।

आचार्य तुलसी ने साधक एवं सुधी विद्वानों के सहज स्मरण रखने के लिये १८१ सूत्रों में 'मनोऽनुशासन' का संस्कृत में प्रणयन किया, वहीं उनके पट्ट शिष्य मुनि नथमल ने इसकी विशद हिन्दी व्याख्या कर, इसकी उपादेयता में चार चाँद ही नहीं लगाये अपितु इसे सर्वबोधगम्य भी बना दिया।

'मनोऽनुशासनम्' के प्रणयन में आचार्य तुलसी महर्षि पतञ्जलि से प्रभावित हैं जिसे निम्न विवेचन से समझा जा सकता है—

पतञ्जलिं

आचार्य तुलसीं*

अथ योगानुशासनम्।

अथ 'मनोऽनुशासन'।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं संज्ञानं मनः।

'मनोऽनुशासन' का परिचय

यह ग्रन्थ सात प्रकरणों में विभाजित है। प्रथम प्रकरण में मन, इन्द्रिय और आत्म निरूपण के साथ योग के लक्षण, शोधन और निरोध की प्रक्रिया और उपायों का वर्णन है। द्वितीय प्रकरण में मन के प्रकार और निरोध के उपाय, तृतीय प्रकरण में ध्यान का लक्षण और उसके सहायक तत्त्व, स्थान (आसन), प्रतिसंलीनता (प्रत्याहार) की परिभाषा, प्रकार, स्वाध्याय, भावना, व्युत्सर्ग की प्रक्रिया का वर्णन है। चतुर्थ प्रकरण में ध्याता, ध्यान, धारणा, समाधि, लेश्या आदि का विवेचन है। पंचम प्रकरण में प्राणायाम का विस्तृत विवेचन के साथ होने वाली सिद्धियाँ

वर्णित हैं। षष्ठ प्रकरण में महाव्रतों (यमों) के साथ संकल्प का निरूपण है और श्रमण धर्म के प्रकारों के रूप में नियम का वर्णन है। सप्तम् प्रकरण में भावना एवं फल निष्पत्ति का विवेचन है।

‘मनोऽनुशासनम्’ को आचार्य तुलसी कृत जैन योग का सूत्रग्रन्थ कहा जा सकता है। इसके विषय में तेरापंथ के दसवें आचार्य महाप्रज्ञ जी ने कहा है— ‘इसमें योगशास्त्र की सर्वसाधारण द्वारा अग्राह्य सूक्ष्मताएँ नहीं हैं। किन्तु जो हैं, अनुभवयोग्य और बहुजनसाध्य हैं। इस मानसिक शिथिलता के युग में मन को प्रबल बनाने की साधन-सामग्री प्रस्तुत कर आचार्यश्री ने मानव-जाति को बहुत ही उपकृत किया है^{११}।’ यह आकार में लघु और प्रकार में गुरु है^{१२}।

मनोऽनुशासनम् का प्रयोजन

आचार्य तुलसी^{१३} ने ‘मनोऽनुशासनम्’ की रचना के पीछे अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए लिखा है—मानसिक सन्तुलन के अभाव में व्यक्ति का जीवन दूभर बन जाता है। सब संयोगों में भी एक विचित्र खालीपन की अनुभूति होती है। अनेक व्यक्ति पूछते हैं—शान्ति कैसे मिले? मन स्थिर कैसे हो? मैं उन्हें यथोचित समाधान देता हूँ। ये प्रश्न कुछेक व्यक्तियों के नहीं हैं। ये व्यापक प्रश्न हैं। इसलिए इनका समाधान भी व्यापक स्तर पर होना चाहिए। ‘मनोऽनुशासनम्’ के निर्माण का यही प्रयोजन है।’

जैसा कि कहा भी जाता है—‘मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।’

अर्थात् मनुष्य का मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है। वह अनुशासन से ही प्राप्त होता है। बल-प्रयोग से वे (इन्द्रियों और मन) वशवर्ती नहीं किये जा सकते। हठ से उन्हें नियन्त्रित करने का यत्न करने पर भी वे कुण्ठित हो जाते हैं। उनकी शक्ति तभी खत्म हो सकती है, जब वे प्रशिक्षण के द्वारा अनुशासित किए जाएं^{१४}।’

‘मनोऽनुशासनम्’ की विशेषताएँ

१. आचार्य तुलसी ने इसे सर्वग्राह्य बनाने के लिये सीधे मन से प्रारम्भ किया। मन को प्राथमिकता देने के कारण ही सर्वप्रथम मन की परिभाषा दी, अनन्तर मन और इन्द्रियों का सम्बन्ध निरूपण करते हुए आत्मा के स्वरूप का विवेचन कर, मन के स्वामी आत्मा द्वारा मन के अनुशासन की प्रक्रिया को योग कहा। ऐसी स्थिति में मन को इन्द्रिय और आत्मा को मध्यस्थ मानकर इन्द्रियों के द्वारा मन से प्राप्त ज्ञान शुद्ध हो, इस हेतु मन के संसाधन स्वरूप इन्द्रियों के शोधन की बात प्रथम प्रकरण में कही है। इस प्रथम

प्रकरण में वे अनेक स्थलों पर पतञ्जलि से भिन्न दृष्टिकोण लिये हुए भी हैं। यथा—

- (१) जहाँ दर्शन में मन को संकल्प-विकल्पात्मक माना जाता है वहीं आचार्य तुलसी ने इसकी परिभाषा में लिखा है—‘इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राहित्रैकालिकं संज्ञानं मनः’^{१५} यहाँ मन की स्थिति ज्ञान के संग्राहक की है। अतः मन के संग्राहक के शोधन और निरोध की प्रक्रिया इसमें महत्वपूर्ण हो गई है।
- (२) योग की परिभाषा भी विशिष्ट है। जहाँ योगदर्शनकार पतञ्जलि^{१६} के चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहते हैं वहीं मन, वाणी, काय, आनापान (प्राणापान), इन्द्रिय और आहार के निरोध को योग कहते हैं^{१७}। अतः वे इन्द्रिय आहार के निरोध से पूर्व शोधन की बात करते हैं।
- (३) द्वितीय प्रकरण में मन के छः भेदों का वर्णन है—मूढ़, विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट, सुलीन और निरुद्ध^{१८}। जबकि आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र^{१९} में मन के चार प्रकारों का वर्णन किया है। योग दर्शन में मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध भेद से चित्त की पाँच भूमियाँ (अवस्थाएँ) मानी गयी हैं^{२०}। मन के छः प्रकार आचार्य तुलसी की अपनी मौलिक उद्भावना है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने एकाग्रभूमि के ही दो स्तर माने हैं १. श्लिष्ट (स्थिर मन) और २. सुलीन (सुस्थिर मन)।
- (४) महर्षि पतञ्जलि^{२१} ने चित्तवृत्तियों के निरोध का साधन जहाँ अभ्यास और वैराग्य को बतलाया है वहीं जैनाचार्यों^{२२} ने ज्ञान और वैराग्य को माना है। आचार्य तुलसी^{२३} ने ज्ञान-वैराग्य के साधन के रूप में श्रद्धाप्रकर्ष, शिथिलीकरण, संकल्प निरोध, ध्यान, गुरुपदेश और प्रयत्न की बहुलता का निरूपण किया है।
- (५) मन को नियन्त्रित करने की प्रक्रिया में ध्यान को विशेष महत्व देते हुए आचार्य ने अपने तीसरे प्रकरण का विषय ध्यान की सामग्री को बनाया है। ध्यान की परिभाषा मन को आलम्बन पर टिकाना अथवा योग का निरोध करना ही है^{२४}। साधना में मन लगा रहे इसलिये इन्द्रियजय को आधार-बनाकर एकाग्र सन्निवेश की सामग्री के रूप में ऊनोदरिका, रसपरित्याग, उपवास, स्थान, मौन, प्रतिसंलीनता, भावना, व्युत्सर्ग आदि का समावेश कर दिया गया है^{२५}। यह आचार्य की अपनी उद्भावना है। इतना ही नहीं उन्होंने स्थान (आसन) को भी तीन भागों में विभक्त किया है—ऊर्ध्व, निषीदन और शयन के रूप में और इन्हीं के अन्तर्गत योग

वर्णित आसनों का वर्णन किया है।

- (६) इसी प्रकरण में ध्यान की समस्त सामग्रियों की परिभाषा एवं उसकी उपयोगिता प्रतिपादित की गयी है। इसी क्रम में प्रतिसंलीनता का विवेचन किया है जो योग के प्रत्याहार के समकक्ष प्रतीत होती है। 'प्रतिसंलीनता' जैनयोग का अपना पारिभाषिक शब्द है—जिसका भाव है अशुभ प्रवृत्तियों से शरीर, इन्द्रिय तथा मन का संकोच करना। दूसरे शब्दों में स्व को अप्रशस्त से हटा प्रशस्त की ओर प्रयाण करना है। इसके चार भेद हैं^{२६}—(१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, (२) मन-प्रतिसंलीनता, (३) कषाय-प्रतिसंलीनता और (४) उपकरण प्रतिसंलीनता। आचार्य तुलसी ने—'इन्द्रिय-कषायनिग्रहो-विविक्तवासश्च प्रतिसंलीनता'^{२७} लक्षण किया है जिसके अनुसार इसके तीन रूप हैं। मन का अन्तर्भाव. इन्द्रिय में कर दिया और उपकरण विविक्तवास का ही रूप है। इन्द्रियनिग्रह के उपाय के रूप में द्वादश भावना^{२८} और मैत्री-प्रमोद-करुणा-माध्यस्थ आदि चार भावना का^{२९}, कषायनिग्रह के लिये व्युत्सर्ग^{३०} का निरूपण किया है। द्वादश भावना और व्युत्सर्ग जैन धर्म की अपनी विशेषता है। व्युत्सर्ग का आचार्यश्री ने विशेष विवेचन किया है।
- (७) चतुर्थ प्रकरण में ध्याता, ध्यान-स्थल, ध्यान के भेद, धारणा, प्रेक्षा का विवेचन किया गया। जहाँ पिण्डस्थ स्थान के अन्तर्गत आचार्य हेमचन्द्र^{३१} शुभचन्द्र^{३२} और श्री नागसेनमुनि^{३३} ने धारणा के पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति वारुणी और तात्त्विकी (तत्त्वभू) के भेद से पाँच प्रकार माने वहीं आचार्य ने धारणा के चार प्रकार ही माने^{३४} हैं। धारणा के बाद समाधि^{३५} का विवेचन भी आचार्य ने इसी प्रकरण में कर दिया और उसे लेश्या से अभिन्न बताया है।
- (८) पंचम प्रकरण में प्राणायाम का २७ सूत्रों में विशद विवेचन किया है जो उसके महत्त्व का सूचक है और जिसे जैनाचार्यों^{३६} ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकरण में जिस कुशलता से आचार्य ने प्राणायाम के प्रकार, वर्ण स्थान, ध्वनि बीज, किस स्थान पर निरोध से क्या लाभ होता है? आदि का विवेचन किया वह अपने आप में विशिष्ट है। प्राणायाम के लिये एक स्वतन्त्र प्रकरण का प्रणयन इस बात का द्योतक है कि योगांगों में उसका कितना महत्त्व है। आचार्य तुलसी की दृष्टि में चित्त (मन) प्राणायाम से ही स्थिर होता है^{३७}।

(९) षष्ठ प्रकरण में योगांगों में यम के नाम से प्रसिद्ध पंचमहाव्रतों^{३८} की मीमांसा की गई है। इनको साधना के लिये साधन मानने के स्थान पर साध्य मान लिया गया है। आचार्य मन के नियमन से प्रारम्भ की गई यात्रा को ध्यान की सामग्री, ध्याता, ध्यान के भेद, धारणा, समाधि और प्राणायाम से बढ़कर पंच महाव्रतों और श्रमण धर्म^{३९} के रूप में नियमों की सिद्धि तक ले आये हैं। इसी प्रकरण में समाधि से प्राप्त होने वाली 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना के समान 'ज्योतिर्मयोऽहं, आनन्दमयोऽहं, स्वस्थोऽहं, निर्विकारोऽहं, वीर्यवानऽहं'—की भावना का उदय दिखाया जो आत्मा के विकास की अन्तिम सीढ़ी है^{४०}।

सप्तम प्रकरण में तो एक प्रकार से साधना से होने वाली फलश्रुति के समान जिन भावना का उदय^{४१} और कायोत्सर्ग का विवेचन किया गया है^{४२}।

आचार्य तुलसी ने 'मनोनुशासनम्' की रचना कर जैन जगत् की एक अलौकिक योग दृष्टि का विकास किया है। आचार्य तुलसी का 'मनोऽनुशासनम्' उसी प्रकार जैनयोग का सूत्रग्रन्थ सिद्ध होगा जिस प्रकार वैदिक योगदर्शन का सूत्रग्रन्थ पतञ्जलि का योगसूत्र है। इन्होंने पतञ्जलि की शैली अपनायी, उनके विषय भी लिये परन्तु उसे अपनी दृष्टि से अपने क्रम से प्रस्तुत किया, एक तरह से उन्होंने योग को जैन तत्त्व-मीमांसा के आलोक में देखकर तदनु रूप व्यवस्थित किया है, जो जैन एवं जैनैतर सभी साधकों के लिये उपयोगी है। आचार्य तुलसी पर हेमचन्द्राचार्य और श्री नागसेन मुनि आदि का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है फिर भी उनकी अपनी सर्वातिशायी शेमुषीदृष्टि और सर्वकषाप्रज्ञा ने 'मनोऽनुशासनम्' को एक नवीन रूप प्रदान किया है।

सन्दर्भ-सूची

१. संस्कृत-हिन्दी-शब्दकोष, वामनशिवराम आप्टे, पृ. १०९५।
२. पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, जमनालाल जैन, जैन साधना का रहस्य, पृ. ४१७-४१९।
३. प्राणायामः प्रत्याहारोः ध्यानं धारणा तर्कः समाधि षडंग इत्युच्यते, ६/१८।
४. यमनियमासनप्रणायामप्रत्याहार धारणाध्यानसमाधयोऽष्टांगानि। योगसूत्र-२/२९।
५. उत्तराध्ययनसूत्र, २८/२।
६. मनोऽनुशासनम्, आचार्य तुलसी, पृ. १४।
७. मिता तारा बाला स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नमामि योगदृष्टिनां लक्षणं च निबोधतः॥ (योगदृष्टिसमुच्चयः-१४)

६४ : श्रमण, वर्ष ६०-६१, अंक ४, १ / अक्टू.-दिसम्बर ०९-जन.-मार्च-१०

८. आध्यात्म भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योगः, एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥ (योगबिन्दु, ३१)
९. योगसूत्र, १/१२।
१०. मनोऽनुशासनम्, १/१२।
११. मनोऽनुशासनम्, मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ), आमुखा।
१२. वही।
१३. वही, आचार्य-तुलसी, भूमिका।
१४. मनोऽनुशासनम्, आचार्य तुलसी, भूमिका।
१५. मनोऽनुशासनम्, १/२।
१६. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, योगसूत्र-१/२।
१७. मनोऽनुशासनम्, १/११।
१८. मूढ-विक्षिप्त-यातायातं-श्लिष्ट-सुलीन-निरुद्धभेदाद् मनः षोढा, मनोऽनुशासनम्, २/१।
१९. इहं विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च।
चेतश्चतुः प्रकारं तज्जचमत्कारकारी भवेत॥ योगशास्त्र (१२/२)
२०. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धिमिति चित्तभूमयः, योगसूत्र, व्यासभाष्य, १/२।
क्षिप्तं मूढं विक्षिप्त एकाग्रं निरुद्धं चित्तस्य भूमयः चित्तस्य अवस्थां विशेषाः,
भोजवृत्ति-१/२,
२१. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः, योगसूत्र, १/१२
२२. (१) ज्ञान वैराग्यरज्जुभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रियवाजिनः॥, तत्त्वानुशासनम्, श्लोक, ७७
(२) ज्ञान-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः, मनोऽनुशासनम्-२/१६।
२३. श्रद्धाप्रकर्षेण। शिथिलीकरणेन। संकल्पनिरोधेन। ध्यनेन च मनोऽनुशासनम्,
२/१७-२०।
२४. गुरुपदेश-प्रयत्नबाहुल्याभ्यां तदुपलब्धिः, वही, २/२१ सूत्र।
२५. ऊनोदरिका-रसपरित्यागोपवास-स्थान-मौन-प्रतिसंलीनता
स्वाध्याय-भावना-व्युत्सर्गास्तत् समग्र्यम्, वही, ३/२।
२६. औपपातिकसूत्र, बाह्य तप अधिकार तथा व्याख्याप्रज्ञप्तिस्त्र, २५/७/७।
२७. मनोऽनुशासनम्, ३/१३।
२८. अनित्य-अशरण-भव-एकत्व-अन्यत्व-अशौच-आश्रव-संवर-निर्जरा-धर्म-
लोकसंस्थान-बोधिदुर्लभता। वही, ३/१९।
२९. मैत्री-प्रमोद-कारुण्य मध्यस्थताश्च, वही, ३/२०।

३०. शरीर-गण-उपधि-भक्तपान-कषायाणां विसर्जनं व्युत्सर्गः, मनोऽनुशासनम्
३/२२।
३१. पार्थिवी स्यादथाग्नेयी मारुती वारुणी।
तत्त्वभूः पंचमी चेति पिण्डस्थे पंचधारणाः॥, योगशास्त्र, ७/९
३२. ज्ञानार्णव, सर्ग-३७।
३३. तत्त्वानुशासनम्, श्लोक-१८३/१८७।
३४. पार्थिवी-आग्नेयी-मारुति-वारुणीति चतुर्था, वही, ४/१६
३५. शुद्धचैतन्यानुभवः समाधिः। विकल्पशून्यत्वेन चित्तस्य समाधानं वा। सन्तुलनं
वा, मनोऽनुशासनम्, ४/२७ से २९
३६. सुनिर्णीतस्वसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते।
मुनिभिर्ध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः॥, ज्ञानार्णवः २६/४१
३७. स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम्, वही, २६/५४
३८. सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतम्, मनोऽनुशासनम्, ६/१
३९. क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि
श्रमणधर्मः॥, वही, ६/१५
४०. मनोऽनुशासनम्, ६/२७।
४१. वही, ७/१-५।
४२. वही, ७/६-९।



श्रमणपरम्परा में समाज व्यवस्था

डॉ. हरिशंकर पाण्डेय

जीवनोन्नयन, भौतिक समृद्धि, शान्त विरासत, त्याग-तपस्या, परमतृप्ति और मोद के साथ समस्त बाधाओं और बन्धनों को बाधित कर पूर्ण विश्रान्ति और मुक्ति में प्रतिष्ठापित होना ही श्रमण-परम्परा का स्वारस्य है। 'श्राम्यति इति श्रमणः', 'सम्यक् मन समनः', 'शमति इति शमन', इत्यादि व्युत्पत्तियों एवं पर्यायों से विभूषित यह परम्परा सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी त्रिरत्नों से साधित करने की कमनीय कला से विभूषित तो है ही जीवनोन्नयन के साथ जीवनोत्सर्ग की घटना भी सहज ही घटित होती है। यहाँ भोग, त्याग, संयम, वीर्य सबकुछ होते हुए भी त्याग की प्रधानता है। अहिंसा जिसकी भूमि है, समता, मैत्री, जीवदया, आत्मानुशासन आदि जिसके सहचर हैं। परदमन की अपेक्षा आत्मदमन किंवा आत्मसंयम को जो सहज ही स्वीकार करता है—

अप्या चेव दमेयव्वो अप्या हु खलु दुद्दमो।

अप्या दंतो सुही होई अस्सिं लोए परत्थय।।

जो आत्मवादी, कर्मवादी है, लोकवादी, क्रियावादी है कर्मानुसार विभिन्न लोकों को, पाप-पुण्य को स्वीकार करता है। जो आत्मा की औपपत्तिकता में विश्वास करता है—अत्थि में आया उववाइए^१। सहसम्मुइयाए, परवागरणेणं अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा। अर्थात् स्मृति से, परवागरण आप्त के निरूपण से तथा अन्य विशिष्ट ज्ञानी के पास आकर तथा उन्हें सुनकर वह जान लेता है, उसकी सात्विक आस्था बन जाती है—'अत्थि में आया उववाइए जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसंचरइ सो हं'^२ इस अनुसंचरण-ज्ञान रूप समरस सात्विकता के धरातल पर यह बैखरी वाक् सहज ही स्फूर्त हो जाती है—

'से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी'^३ जो अनुसंचरण को जान लेता है, वही आत्मवादी है, लोकवादी होता है, कर्मवादी तथा क्रियावादी होता है।

श्रमण परम्परा की यही अवधारणा समत्ववाद के सुगंध से, मनमोहक

आकर्षण से सबको आकर्षित करती है। वहाँ वही होता है जो अपने अन्दर होता है। अपने समान संसार को जानने की मानने और देखने की कला सहज ही हस्तगत हो जाती है—‘अप्पणो बहिया पास’ अर्थात् अपने ही समान बाहर देखो। तुम जिसको मारना चाहते हो वह तुम ही तो हो और कोई नहीं। उपनिषद् की यह आर्षवाणी—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्चेवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।

यस्तु सर्वाणिभूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।

तन्न को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।^५

श्रमण परम्परा में भी पल्लवित और पुष्पित होती है। तुम्हारे ही समान सभी जीव हैं—

तुमंसि नाम सच्चेव जं हन्तव्वं ति मन्नसि।

जे आततो पासति सव्वलोए।।^६

गीताकार की समदर्शी गुणलसित पण्डित परिभाषा भी यहाँ पूर्णतया सुरक्षित है—

विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनिचैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनाः।।^६

समदर्शिता और आत्मभावना के साथ स्वात्मवाद की माधवी संगीत भी श्रमण परम्परा में गीतायित है। व्यक्ति ही अपने पुरुषार्थ के बल पर स्वयं सबकुछ बन सकता है। आधुनिक काल में असफल होते युवकों के लिए, टूटती मनोरथ वाली युवतियों के लिए यह महामन्त्र कितना संजीवन रसायन बन सकता है, कोई इस मन्त्र का साधक ही बता सकता है। आचारांग का ऋषि कहता है—

पुरिसा तुममेव तुमं भित्तं किं बहिया भित्तमिच्छसि।^७

हे पुरुष! तुम अपने मित्र स्वयं ही हो बाहर मित्र क्यों खोजते हो। सुख-दुःख का साथी, भाग्य विधाता कोई नहीं होता बल्कि पुरुष स्वयं होता है। सुख-दुःख तो आते-जाते रहते हैं, लेकिन जीवित वही रहता है जो स्वयं अपना मित्र है—विरही यक्ष अपनी द्वितीय जीवन को इसी पुरुषार्थवाद का संदेश देता है। यह सामर्थ्यशालिनी कला की रम्य-प्रतिभा महाकवि कालिदास के काव्य में भी प्रस्फुटित हो जाती है, जो जीवनौषधि तो है ही प्राणौषधि भी बन जाती है—

नन्वात्मानं बहु विगणयन् आत्मन्धेवावलम्बे
तत्कल्याणि! त्वमपिनितरां मा गमः कातरत्वम्।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नाचैर्गच्छति उपरि च दशा चक्रणेभिक्रमेण ॥^६

मनु और शुक्र का भी यही अभिमत है—

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।^७

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मैव ह्यात्मनः।^{१०}

पुरुषार्थ तभी सफल होता है जब श्रद्धा सहचरी हो। श्रामण्य-व्यवस्था में पुरुषार्थ के साथ श्रद्धा पर भी बल दिया जाता है। वही समाज सफल हो सकता है, जहाँ के लोग श्रद्धावान् हों। गीताकार का स्पष्ट उद्घोष है—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् यत्परः संयतेन्द्रियः॥^{११}

निरुक्तकार महामानव यास्क का वचन है—

‘श्रद्धा श्रद्धानात्। तस्या एषाभवति।’^{१२}

जो सत्य को धारण करे वह श्रद्धा है। वह अन्धी नहीं होती है बल्कि सर्वदर्शनसमर्थ समार्थ्य से विभूषित होती है। श्रमण परम्परा का स्पष्ट उद्घोष है—

जाए सद्भाए णिक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा विजहिता विसोत्तिय,^{१३} जिस श्रद्धा से कार्यारम्भ करते हैं उसी श्रद्धा के साथ उस कार्य को पूर्ण करना चाहिए। श्रमणाचार्य युग-पुरुष आचार्य महाप्रज्ञ की वाणी इसका प्रमाण है। अश्रुवीणा में वे कहते हैं—

सत्संपर्का दधति न पदं कर्कशा यत्र तर्काः

सर्वद्वैद्यं व्रजति विलयं नाम विश्वासभूमौ

सर्वे स्वादाः प्रकृतिसुलभा दुर्लभाश्चानुभूताः

श्रद्धा स्वादो न खलु रसितो हारितं तेन जन्म।^{१४}

श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा, सच्चरित्रता, स्वाध्यायादि श्रमण परम्परा के समाजगत मानवीय मूल्य हैं। वहाँ समाज की मूल भित्ति अहिंसा, अपरिग्रह आदि पर आधारित है। ‘अहिंसा परमो धर्मः’ का यह महाभारतीय उद्घोष वहाँ प्रतिपल सुनाई पड़ता है। यह सर्वश्रेष्ठ धर्म है, सर्वश्रेष्ठ तप है। दशवैकालिक ने अहिंसा को उत्कृष्ट धर्म कहा है—धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमोतवो।^{१५}

अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, शाश्वत धर्म है, नित्यधर्म है। आचारांग के अनुसार—

एस धम्मे सुद्धे णितिए सासए।^{१६}

‘अहिंसा सव्वभूयक्खेमकरा’ सबकी रक्षिका है।

अहिंसा मूलक समाज में तब कर्माधारित जाति-व्यवस्था मान्य थी। बाह्यचिह्नों पर आधारित जाति की स्वीकृति नहीं थी। उत्तराध्ययन का ऋषि कहता है—

न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बंभणो

न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण ण तावसो।।^{१७}

अर्थात् कोई सिर्फ सिर मुड़ा लेने से श्रमण नहीं होता, ओम् का जप करने मात्र से ब्राह्मण नहीं होता, केवल अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता और केवल कुश का चीवर पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता है। कर्म के अनुसार ही उनकी जाति होती है—

समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो

नाणेण य मुणी होई तवेणं होइ तावसो।।

कम्मुणा बंभणो होई कम्मुणा होइ खत्तिओ

वइस्सो कम्मुणा होइ सुद्धो हवइ कम्मुणा।।^{१८}

ब्राह्मण का महत्त्व श्रमण-परम्परा में भी स्वीकृत है। वह सर्वपापविरति होता है। इस सन्दर्भ में स्वयं अर्हत् वचन प्रमाण हैं—

एए पाउकरे बुद्धे जेहिं होइ सिणायओ

सव्वकम्मविनिम्मक्कं तं वयं बूम माहणं।।^{१९}

उत्तराध्ययन का ऋषि स्पष्ट उद्घोष करता है कि गुण, शील सम्पन्न ब्राह्मण ही संसार का कल्याण कर सकता है—

एवं गुणसमाउत्ता जे भवंति दिउत्तमा।

ते समत्था उ उद्धत्तुं परं अप्पाणमेव य।।^{२०}

पारिवारिक जीवन

पारिवारिक जीवन अत्यन्त उन्नत था। माता-पिता, स्वामी, धर्माचार्य आदि को उत्कृष्ट सम्मान प्राप्त था। स्थानांग^{२१} का प्रसंग है कि पुत्र अपने माता-पिता की शतपाक एवं सहस्रपाक तेल तथा सुगंधित उबटन से मालिश करते थे। सुगन्धित एवं शीतल जलों से स्नान कराते थे, सर्वालंकार विभूषित करते, अष्टादशव्यंजनों से सत्कार करते तथा यावज्जीवन उन्हें अपने स्कन्ध पर धारण करते थे तो भी माता-पिता के उपकार का बदला चुकाने में असमर्थ रहते थे।

परिवार में बालक, स्त्री, माता-पिता, छोटे भाई-बहन और विधवा स्त्रियों का समावेश था। घर का कार्य स्त्रियाँ करती थीं। पिता ही परिवार का मुखिया होता था। सारे परिवार का एक जगह निवास, भोजन आदि की व्यवस्था थी। परिवार में त्याग की भावना उत्कृष्ट थी। हरेक सदस्य एक दूसरे के लिए अपना सबकुछ छोड़ने के लिए तैयार रहता था। ज्ञाताधर्मकथा^{२२} का प्रसंग है कि राजगृह का एक सार्थवाह जब जंगल में अपने पुत्रों की रक्षा के लिए अपना मांस और रक्त देने के लिए तैयार हो गया, तो उसके ज्येष्ठ पुत्र ने निवेदन किया-पिता जी आप हमारे ज्येष्ठ हैं, संरक्षक हैं, इसलिए यह कैसे हो सकता है कि आपका बलिदान कर हम लोग अपना भरण-पोषण करें। अतएव आपलोग मुझे मारकर अपनी भूख-प्यास शान्त कर सकते हैं। अन्य पुत्रों ने भी अपने पिता से यही निवेदन किया।

समाज में अनेक संस्कारों का उल्लेख मिलता है। स्त्रियाँ श्रेष्ठ पुत्रों की प्राप्ति के लिए देवी-देवताओं, साधु-सन्तों की पूजा करती थीं। सुलसा, श्रीभद्रा आदि स्त्रियों ने अनेक देवों की पूजा कर श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति की थी।

गर्भकाल में दोहद का महत्त्व था। गर्भकालीन विशिष्ट इच्छा को दोहद कहते हैं, जिसे पूर्ण करने पर विशिष्ट योग्यता सम्पन्न सन्तान की उत्पत्ति होती है। गर्भकाल के दो, तीन महीने के अनन्तर विचित्र-विचित्र प्रकार के दोहद उत्पन्न होते थे। ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार रानी धारिणी को आकालिक मेघ दर्शन की इच्छा उत्पन्न हुई। समाज में पुत्र जन्म पर विशेष प्रकार के उत्सव मनाए जाते थे। राजाओं के घर पुत्रजन्म होने पर कैदियों की मुक्ति, दण्डमाफी, भोजनदान आदि प्रभूत मात्रा में होता था। बाजे-गाजे के साथ जन्मोत्सव संस्कार मनाया जाता था। पुत्र-जन्म के प्रथम दिन ही जातकर्म संस्कार होता था। नाल काटकर जमीन में गाड़ दिया जाता था। आवश्यकचूर्णि^{२३} के अनुसार अभ्यंगन, अग्निहोम, रक्षा पोटली बन्धन तथा कानों में 'टि टि' की आवाज करने का भी उल्लेख है।

पुत्र जन्म के दूसरे दिन जागरिका तथा तीसरे दिन चन्द्र-सूर्य का उत्सवपूर्वक दर्शन कराया जाता था। ग्यारहवें दिन 'शूचिकर्म' सम्पन्न होता था। बारहवें दिन अतिथियों को भोजन, वस्त्रादि से संस्कारित कर नामकरण संस्कार सम्पन्न होता था।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार जब बालक घुटनों पर चलने लगता तो परंगमण संस्कार, जब पैरों पर चलना सीख जाता तो चक्रमण संस्कार, प्रथम दिन जब भोजन का आस्वादन करता तो जेमावण संस्कार, पहले-दिन बोलता तो प्रजल्पन संस्कार, कान छेदने के दिन कर्णवेगाँ संस्कार मनाया जाता था। वर्षगांठ, चूड़ायन,

उपनयन, कला ग्रहण आदि संस्कार मनाये जाते थे। पाँच वर्ष के बालक को शिक्षा ग्रहण के लिए गुरुजी के पास, कलाचार्य के पास भेजा जाता था। ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार थावच्चा पत्नी अपने पुत्र को पाँचवर्ष के उम्र में कलाचार्य के पास शिक्षा ग्रहणार्थ भेजती है। वह थावच्चा पुत्र सभी विद्याओं और ७२ कलाओं की शिक्षा अपने गुरु से ग्रहण करता है। विवाह संस्कार धूम-धाम से मनाये जाते थे। बहुविवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। श्रमण किंवा जैन परम्परा में विद्या और कला उन्नतावस्था में थी। व्याख्याप्रज्ञप्ति,^{१४} औपपातिक,^{१५} आदि प्राचीन जैन आगम ग्रन्थों में वेद-वेदाङ्गों का उल्लेख है। स्थानांग में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का उल्लेख है। व्याख्याप्रज्ञप्ति^{१६} में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, निघंटु, संख्यान (गणित) शिक्षा, कल्प, व्याकरण छन्द, निरुक्त, ज्योतिष आदि का उल्लेख है। उत्तराध्ययन^{१७} की टीका में चतुर्दश विद्यास्थानों-चार वेद, छह वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय पुराण और अन्य धर्मशास्त्रों आदि का निर्देश है।

ज्ञाताधर्मकथा, समवायांग, औपपातिक, राजप्रश्नीय आदि ग्रन्थों में ७२ कलाओं का उल्लेख है। अन्य विद्याएं-तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना आदि भी प्रचलित थीं। यद्यपि साधु-साध्वियों के लिए इन सबका पूर्णतया निषेध था।

राजधानियाँ, तीर्थस्थान, मठ, मन्दिर, उपाश्रय आदि विद्या अध्ययन के केन्द्र थे। प्राचीन काल में वाराणसी विद्या का प्रमुख केन्द्र था। शंखपुर का निवासी राजकुमार अगडदत्त ने वाराणसी जाकर अनेक विद्याओं का अध्ययन अपने उपाध्याय के घर रहकर ही किया था।

साधु-साध्वियों के उपाश्रय एवं उनके निवास-स्थान भी विद्याध्ययन के प्रमुख स्थल थे। आज भी जैनपरम्परा में इन स्थानों का विद्याध्ययन के लिए प्रभूत उपयोग होता है।

लौकिक रीति रिवाजों में झाड़-फूँक, जादू-टोना, काजल, तिलक मंगल के लिए सरसो, दही, दूर्वा एवं अक्षत का उपयोग किया जाता था। निशीथसूत्र में कौतुक, भूतिकर्म (भस्ममलना, डोरा बाँधना), प्रश्न (देवता से प्रश्न पूछना) आदि विद्याओं का उल्लेख है।

कार्य सिद्धि के लिए विभिन्न देवों की आराधना की जाती थी। मन्त्री अभयकुमार ने देवराधना कर राणी धारिणी की दोहड़च्छा (अकालिक मेघदर्शन) को पूर्ण किया था। अवरकंका के राजा पद्मनाभ ने भी देवाराधन कर देव से ही द्रौपदी का अपहरण करवाया था।^{१८}

जैनागम ग्रन्थों तथा अन्य जैन शास्त्रों में अनेक प्रकार के शुभाशुभ शकुन का उल्लेख मिलता है। शुभ शकुनों में १२ प्रकार के वाद्यों की ध्वनि का एक साथ सुनाई पड़ना तथा शंख की ध्वनि, पूर्णकलश, शृङ्गार, छत्र, वाहन, यान, श्रमण, पुष्प, मोदक, दही, मत्स्य, घंटा, पताका आदि का दर्शन करना प्रमुख है।^{१९} पक्षियों में जंबूक, चास, मयूर, भारद्वाज, नकुलादि शुभ माने गए हैं, यदि ये दक्षिण दिशा में दिख जाएं तो प्रभूत सम्पत्ति का लाभ होता है। तिथि, करण, नक्षत्रादि पर भी प्रभूत विचार होता था।

श्रमण परम्परा के शास्त्रों में अनेक प्रकार के मनोरंजन- खेल-कूद, आमोद प्रमोद के संसाधनों, खिलौनों आदि का उल्लेख मिलता है। अनेक प्रकार के उत्सव, त्योहार, संखडि (भोज), यज्ञ, गोष्ठी, पर्व, आदि मनाए जाते थे। अनेक प्रकार के क्रीडोद्यानों का भी वर्णन मिलता है।

आचारनिष्ठा की द्वैविध्यता स्वीकृत है। श्रमणव्रत में पाँच महाव्रतों की अखण्डनिष्ठा वांक्ष्य है। प्राण चला जाए तो चला जाए लेकिन व्रतभङ्ग स्वीकार नहीं है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अखण्डता से पालन करना ही पूर्ण श्रामण्य धर्म माना जाता है।

श्रमणधर्म का पालन करना सबके वश और सामर्थ्य का विषय नहीं है इसलिए श्रावक व्रत अथवा गृहस्थ धर्म की निष्ठा भी प्रतिष्ठित हुई। कुछ विकल्पों के साथ व्रत ग्रहण की स्वीकृति दी गई। उपासकदशांग में श्रावकों के जीवन के माध्यम से गृहस्थ धर्म का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

साधक मार्ग में आचारमीमांसा, नित्य क्रियाओं आदि का विस्तार से वर्णन है। सात तत्त्वों किंवा नौ तत्त्वों के साथ षडद्रव्य की मीमांसा की गई है। अनेकान्तवाद न केवल श्रमणपरम्परा की अमूल्य धरोहर है बल्कि आज के समस्त विवादों, कलहों को समूल शान्त करने में भी सक्षम है।

ऐहिक भोग, व्रत साधना, स्वाध्यायनिष्ठा, कठोरतपश्चर्या के साथ, 'योगो नान्ते तनू त्यजाम् रूप कालिदासीया वाक्' की तरह अन्त में समाधिमरण का श्रेष्ठ वरण कर परमशान्ति और तृप्ति में विरमित हो जाना श्रमण परम्परा का स्वारस्य है।

सन्दर्भ सूची-

१. आचारांग, १.१.२
२. वही, १.१.२
३. वही, १.१.३
४. ईशावास्योपनिषद्, ६-७

५. अचारांग, १.१२.१८
६. गीता, ५.१८
७. आचारांग, १.३.३.६२
८. मेघदूत उत्तरखंड
९. मनुस्मृति, ८.८४
१०. शुक्रनीति, ४.५.२०४
११. गीता, ४.३९
१२. निरुक्त, ९.३०
१३. आचारांग, १.१.३.२०
१४. अश्रुवीणा, ४
१५. दशवैकालिक, १.१
१६. आचारांग, १.४.३२
१७. उत्तराध्ययन, २५.३१
१८. वही, २५.३२
१९. वही, २५.३४
२०. वही, २५.३५
२१. स्थानांग, ३.१३५
२२. ज्ञाताधर्मकथा, १८
२३. आवश्यकचूर्णि, पृ. १३९-४०
२४. व्याख्याप्रज्ञप्ति, २.१
२५. औपपातिक, ३८, पृ. १७२
२६. व्याख्याप्रज्ञप्ति, २.१
२७. उत्तराध्ययन, ३.३
२८. ज्ञाताधर्मकथा, १६
२९. बृहत्कल्पभाष्य, १५४९-५०



पातञ्जल 'योगदर्शन' और हेमचन्द्राचार्य रचित 'योगशास्त्र' में प्राणायाम का निरूपण

प्रो. डॉ. विष्णुकुमार पुरोहित*

'योग' शब्द का अर्थ एवं परिभाषा :

योग शब्द 'युज समाधौ' युज् धातु चौथा गण (आत्मनेपदी) को धञ् प्रत्यय से निष्पन्न है। अतः इसका अर्थ समाधि अर्थात् चित् वृत्ति का नियमन है। योग शब्द अन्यत् 'यूजपी योगे' एवं 'युजिच समाधौ' जैसी धातुओं से भी निष्पन्न होता है किन्तु तब योग का अर्थ जोड़ना तथा नियमन करना होगा, जो अर्थ योगदर्शन में प्रतिपादित योग की परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के प्रति अनुकूल नहीं होने से यहाँ यह अर्थ स्वीकृत नहीं है। अतः योग का अर्थ समाधि अर्थात् चिप्रवृत्तियों का निरोध ही स्वीकृत है।

योग का फल :

'योगदर्शन' के रचयिता महर्षि पतञ्जलि ने योग के फल अथवा परिणाम के विषय में कहा है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' अर्थात् जब योगी परिपक्व अवस्था में पहुँच जाते हैं तब उनको स्वयं की वास्तविक संरचना अथवा स्वरूप का विशेष ज्ञान एवं ईश्वर के वास्तविक रूप का परिज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त अन्य फल इस प्रकार हैं—

मेधा की प्राप्ति :

योगी को नित्य-अनित्य, सुख-दुःख आदि को यथार्थ स्वरूप में जानने की बुद्धि प्राप्त होती है।

तीव्र स्मृति की प्राप्ति :

योगी को श्रुत, अनुभूत और मननीय विषयों की त्वरित स्मृति एवं पुनः स्मृति सामर्थ्य प्राप्त होती है।

एकाग्रता की प्राप्ति :

योगी इच्छित विषयों में चित् को एकाग्र कर सकता है और उक्त विषय में अपने हृदय को एकाग्र कर सकता है।

* अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, गवर्मेन्ट आर्ट्स कॉलेज, गाँधीनगर

मन एवं अन्य इन्द्रियों पर नियन्त्रण :

योगी शरीर, मन एवं अन्य इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है और इन्द्रियों को अधर्म से हटाकर धर्म में प्रवर्तित कर लेता है।

सकामकर्मी से निष्काम कर्मी में परिवर्तन :

योगी सकाम कर्मों को त्यागकर निष्काम कार्यों के लिए तत्पर रहता है।

योग के अंग :

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग को जिन आठ अंगों में विभाजित किया गया है, वे हैं यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि^३।

योग जिज्ञासु को इन आठ अंगों का मन, वचन और तन से श्रद्धापूर्वक पालन करना चाहिए। प्रथम अंग यम का सम्बन्ध, परिवार, समाज, देश और विश्व के साथ अधिक एवं स्वयं के सन्दर्भ में कम रहता है। अन्य शब्दों में कहें तो दूसरे प्राणियों के साथ अच्छा व्यवहार रहता है और स्वयं के साथ अपेक्षाकृत कम हो जाता है।

नियम का सम्बन्ध यम से बिल्कुल विपरीत है, इसके अनुसार व्यक्ति का स्वयं से सम्बन्ध अधिक रहता है एवं दूसरों के प्रति न्यूनतम रहता है।

यम-नियम का पालन करना नैतिकता है। उसके पालन से व्यक्ति एवं समाज का निर्माण होता है। इसके विपरीत अगर इनका पालन न किया जाये तो उस स्थिति में व्यक्ति और समाज दोनों का चरित्र अशुद्ध होता है। अतः व्यवहार के शुद्धीकरण हेतु तथा ईश्वर प्राप्ति के लिए यम, नियम का श्रद्धापूर्वक पालन करना आवश्यक है।

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं समाधि का सम्बन्ध समाज के अपेक्षाकृत व्यक्ति से अधिक है, इस प्रकार शुद्ध व्यवहार से उपासना की शुद्धि होती है और तदनुसार शुद्ध उपासना से व्यवहार की शुद्धि होती है। इस तरह का आचरण करनेवाले को आनन्द एवं सफलता प्राप्त होती है।

पातञ्जल 'योगदर्शन' में प्राणायाम का निरूपण :

श्वास-प्रश्वास की गति को यथा शक्ति रोकने को प्राणायाम कहते हैं^४। बाहर के वायु को अन्दर लेना श्वास है। अन्दर के वायु को बाहर निकालना प्रश्वास है। इन दोनों की गति को यथाशक्ति रोकना प्राणायाम है। श्वास को बाहर निकाल कर बाहर की शक्ति अनुसार रोकना बाह्य प्राणायाम है।

बाह्य प्राणायाम में श्वासपूर्वक गति को रोका जाता है। आभ्यन्तर प्राणायाम में

प्रश्वासपूर्वक गति को रोका जाता है। स्तम्भवृत्ति प्राणायाम में प्राण को, न बाहर निकाला जाता है न अन्दर लिया जाता है किन्तु यथास्थान रोका जाता है। यह स्तम्भवृत्ति प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास को ज्यों का त्यों रोक दिया जाता है। इन तीन प्राणायामों को देश, काल, संख्या से परीक्षित किया जाता है। प्राण को शरीर से बाहर निकाला जाता है तब वह जहाँ रहता है तथा प्राण को शरीर में अन्दर रोका गया है तब शरीर में जहाँ प्राण रहता है उसको देश कहते हैं। प्राणायाम करते वक्त जितने समय तक प्राण को रोका जाता है उन क्षणों को काल कहते हैं और एक प्राणायाम के समय में स्वाभाविक तौर पर जितनी बार श्वास-प्रश्वास लिया जाता है उसको संख्या कहते हैं^६। बाह्यांतर विषयाक्षेपी नाम का चतुर्थ प्राणायाम है जो बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायाम के विषय को दूर करने वाला है।

देश, काल, संख्या द्वारा परीक्षित बाह्य प्रदेश में होने वाला यह प्राणायाम चतुर्थ प्राणायाम द्वारा उल्लंघित होता है। जब बाह्य वायु बाहर से अन्दर की ओर गति करती है तो यह प्राणायाम उसकी गति को रोक देता है। इस तरह आभ्यन्तर परीक्षित प्राणायाम में वायु जब अन्दर से बाहर की ओर गति करती है तो यह प्राणायाम उसकी गति को रोक देता है। इस तरह दोनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है। बाह्याभ्यन्तर दोनों प्राणायाम को क्रम से परिपक्व बनाने के बाद इस प्राणायाम द्वारा दोनों की गति का अभाव हो जाता है। यह चतुर्थ बाह्याभ्यन्तर, विषयापेक्षी प्राणायाम में बाह्य वायु अन्दर की ओर आता है तब और जब अन्दर का वायु बाहर की ओर जाता है तब उसको भी रोक देता है, अतः उसका नाम बाह्याभ्यन्तर विषयापेक्षी है^६।

प्राणायाम का प्रभाव :

योग साधना के आठ अंग हैं, जिनमें प्राणायाम चौथा सोपान है। इसके पूर्व के अंग यम, नियम तथा आसन हमारे शरीर को स्वस्थ रखने के लिए बहुत आवश्यक हैं। प्राणायाम के पश्चात् प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि मानसिक साधन हैं। प्राणायाम दोनों प्रकार की साधनाओं के बीच का साधन है अर्थात् यह शारीरिक भी है और मानसिक भी। प्राणायाम से शरीर और मन दोनों स्वस्थ और पवित्र हो जाते हैं तथा मन का निग्रह हो जाता है। 'प्राणायाम' दो शब्दों प्राण+आयाम से मिलकर बना है। प्राण का साधारण अर्थ है जीवनी शक्ति और आयाम का अर्थ है विस्तार अर्थात् जीवनी शक्ति का विस्तार। 'प्राण' शब्द के साथ प्रायः वायु जोड़ा जाता है, तब इसका अर्थ नाक द्वारा श्वास लेकर उसे फेफड़ों में फैलाना तथा उसके ऑक्सीजन के अंश को रक्त के माध्यम से शरीर के अंग-प्रत्यंगों में पहुँचाना होता है।

हेमचन्द्राचार्य के 'योगशास्त्र' में प्राणायाम का निरूपण :

भारत भूमि पर प्राचीन समय से ही योग विद्या का प्रचार-प्रसार था तथा इस सन्दर्भ में लोगों में दर्शन एवं समझ विकसित हो चुकी थी। अनेकानेक उपलब्धियों एवं सिद्धियों से नास्तिक स्वभाववाले मनुष्य पर भी योग का सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'योग शास्त्र' की रचना कुमारपाल राजा की प्रार्थना से की। अतः योगशास्त्र की रचना का मुख्य उद्देश्य कुमारपाल की योग सम्बन्धित इच्छा और गौणरूप से संसार के ताप से तप्त जीवों को आत्मिक सुख की शीतलता प्रदान करने से है। हेमचन्द्र द्वारा रचित योगशास्त्र में बारह प्रकाश हैं। पाँचवें प्रकाश में प्राणायाम का निरूपण आता है। प्राणायाम के प्रयोजन में आचार्य हेमचन्द्र का कथन है—

'प्राणायामस्ततः कैश्चिदाश्रितो ध्यान-सिद्धये।

शक्यो नेतरथा कर्तुं मनः पवन-निर्जयः॥'

अर्थात् प्राणायाम किये बगैर मन पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती, क्योंकि मन जिस स्थान पर रहता है वहीं पवन रहता है, जहाँ पवन है वहीं मन है।

'मनो यत्र मरूत्तत्र, मरूद्यत्र मनस्ततः।'

आचार्य हेमचन्द्र स्पष्ट करते हैं कि शरीर के किसी भी भाग में मन को रोकोगे, उस स्थान पर पवन की आहट महसूस होती है। मन एवं पवन को क्रियात्मकता के दृष्टिकोण से समतुल्य माना गया है। मन और पवन में से किसी एक का नाश होता है तो दूसरे का भी नष्ट होना निश्चित हो जाता है। तब इन्द्रिय एवं विचार की प्रवृत्ति बंद हो जाती है।

'एकस्य नाशेऽन्यस्य स्यान्नाशो वृत्तौ च वर्तनम्।

ध्वस्तयोरिन्द्रियमति-ध्वंसान्मोक्षश्च जायते॥'

प्राणायाम के लक्षण :

प्राण की स्वाभाविक गति श्वास-प्रश्वास को रोकना ही प्राणायाम है। नासिका छिद्र से बाहर निकलने वाली वायु को श्वास कहते हैं। बाहर से अन्दर प्रवेश करने वाली श्वास को प्रश्वास कहते हैं। दोनों की स्वाभाविक गति को रोकना ही प्राणायाम कहलाता है।

प्राणायाम के प्रकार :

आचार्य हेमचन्द्र ने प्राणायाम के तीन प्रकारों का वर्णन किया है, इसके साथ-साथ अन्य आचार्यों के मतानुसार प्राणायाम के सात भेद बताये गये हैं—

रेचक प्राणायाम :

श्वास को निकालने की क्रिया अथवा श्वास को अन्दर से बाहर निकालने की प्रक्रिया रेचक प्राणायाम कहलाती है।

पूरक प्राणायाम :

बाह्य वायु को खींचकर अन्दर श्वास भरने की क्रिया को पूरक प्राणायाम कहते हैं।

कुम्भक प्राणायाम :

श्वास के आवागमन को स्थिर करना अथवा रोकना कुम्भक प्राणायाम कहलाता है।

प्रत्याहार प्राणायाम :

एक स्थान से अन्य स्थान पर वायु को खींच कर ले जाना प्रत्याहार प्राणायाम कहलाता है।

शान्त प्राणायाम :

नासिका एवं मुख द्वार से वायु का सन्तुलनात्मक नियमन करना शान्त प्राणायाम कहलाता है। शान्त और कुम्भक प्राणायाम में केवल इतना अन्तर है कि कुम्भक में नाभिकमल में श्वास को रोका जाता है जबकि शान्त प्राणायाम में ऐसा कोई नियम नहीं है।

उत्तर प्राणायाम :

बाह्य वायु को अन्दर खींचकर अत्यधिक उन्नत स्थान में धारण करके रखने को उत्तर प्राणायाम कहा जाता है।

अधर प्राणायाम :

उत्तर प्राणायाम के विपरीत प्रकार से अर्थात् नाभि आदि निम्न प्रदेश में वायु को धारण करना अधर प्राणायाम कहलाता है।

प्राणायाम की फलप्राप्ति :

आचार्य हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' में प्राणायाम के प्रभावशाली परिणामों का निरूपण किया है। जैसे कि रेचक प्राणायाम से उदर की व्याधि और कफ का नाश होता है।

'रेचनादुदरव्याधेः कफस्य च परिक्षयः'।

जबकि पूरक प्राणायाम से शरीर हृष्ट-पुष्ट बनता है और रोगों का नाश होता है। शरीर की ग्रन्थियों का विकास होता है। शरीर में बल की वृद्धि होती है और वायु को स्थिर किया जा सकता है। प्रत्याहार नामक प्राणायाम से शरीर की कान्ति

बढ़ती है। शान्त प्राणायाम से वात, पित्त, कफ आदि दोषों में लाभ मिलता है। उत्तर, अधर और कुम्भक प्राणायामों से स्थिरता आती है।

तदुपरान्त आचार्य हेमचन्द्र प्राण, अपान आदि पाँच वायु के नियत स्थानों की भी व्याख्या करते हैं। वायु पर विजय अर्थात् श्वास को स्थिर करने की कला से अनेकविध लाभ प्राप्त होते हैं। जैसे कि प्राण वायु वश में करने से जठराग्नि की प्रबलता बढ़ती है एवं दीर्घश्वास चलता है अर्थात् श्वासरोग का निवारण होता है। शरीर हल्का होता है, समान और उदान वायु को जीतने से घाव का निवारण होता है और अस्थि सम्बन्धी व्याधियाँ समाप्त हो जाती हैं। उदान वायु को जीतने से उत्क्रान्ति अथवा दशम द्वार से प्राण त्याग किया जा सकता है। उसके उपरान्त ईड़ा नाड़ी के मार्ग से प्रवेश करने वाले वायु के प्रवेश सम्बन्धी लाभ की जानकारी भी आचार्य हेमचन्द्र ने दी है।

महर्षि पातञ्जलि प्राणायाम का फल बताते हुए कहते हैं—'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'। प्राणायाम से ज्ञान को आच्छादित करने वाला आवरण नष्ट हो जाता है। जिससे अशुभ संस्कार एवं भावी अशुभ कर्मों से मुक्ति मिलती है। उसके पश्चात्—

१. व्यक्ति जब प्राणायाम करता है तब मन एवं इन्द्रियों की चंचलता स्थिर हो जाती है। जिससे योगी स्थिर बुद्धि से स्वयं को किसी भी दोष से मुक्त करने में सक्षम होता है। उसके दोष दूर होने से शुभ संस्कार विकसित होते हैं। इससे अज्ञान का नाश होता है।
२. प्राणायाम करने से मन एवं इन्द्रियों पर योगी का अधिकार हो जाता है अतः वह विधिपूर्वक ईश्वर की उपासना करने में सफल होता है। ईश्वर उसको विद्या प्रदान करता है इस विद्या से दुर्गुणों पर विजय प्राप्त होती है।
३. प्राणायाम से सात्त्विक गुणों की वृद्धि और रजोगुण व तमोगुण का नाश होता है अर्थात् अज्ञान का नाश और ज्ञान की वृद्धि होती है।
४. प्राणायाम से शरीर एवं नाड़ियों की शुद्धता में वृद्धि होती है। उनके शुद्ध होने से ज्ञान का विकास होता है, इसलिए कहा गया है कि प्राणायाम से बढ़कर कोई उत्तम तप नहीं।
५. प्राणायाम के अनुष्ठान से धारणाओं में अर्थात् मस्तिष्क में अद्भुत शक्ति विकसित होती है जिससे मन शान्त रहता है एवं योगी हमेशा स्फूर्तिदायक महसूस करता है, सब कार्यों में उसका मन लगता है।

'धारणासु च योग्यता मनसः'।

'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'।

उपसंहार :

भारतीय दर्शनशास्त्र में योगदर्शन का विशिष्ट स्थान है। महर्षि पतञ्जलि ने चार पद में योगदर्शन की रचना की है जिसमें १८५ सूत्र हैं। पतञ्जलि के अष्टांग योग में प्राणायाम का असीम महत्त्व है। यहाँ महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन तथा आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र में प्राणायाम विषयक जो निरूपण है उसका विवेचन किया गया है। आधुनिक समय में योग के प्रति समाज में जिज्ञासा उत्पन्न हो रही है। दोनों ग्रन्थों में योग के महत्त्वपूर्ण अंग प्राणायाम का निरूपण उपयोगी सिद्ध होता है।

ग्रन्थ-सूची

१. अमरकोश, संपादक : हरदत्त शर्मा, ओरीएन्टल बुक एजेन्सी, पूना १९४१।
२. योगशास्त्र आचार्य हेमचन्द्रकृत, गुजराती भाषान्तर श्री केसरविजयजी गणि, प्रकाशक : बालचन्द्र शकरचन्द शाह, आवृत्ति-५, विक्रम संवत्-२०१५।
३. योगदर्शनम् (महर्षि पतञ्जलिकृत), व्याख्याकार-स्वामी सत्यपति परिव्राजक। प्रकाशक : दर्शन योग महाविद्यालय, आर्यवन, रोजड, जि. साबरकांठा, (गुजरात)।

सन्दर्भ-सूची

१. योगदर्शनम् सूत्र, १-२, (महर्षि पतञ्जलि)
२. योगदर्शनम् सूत्र, १-३, (महर्षि पतञ्जलि)
३. योगदर्शनम् सूत्र, २-२९, (महर्षि पतञ्जलि)
४. योगदर्शनम् सूत्र, २-४९, (महर्षि पतञ्जलि)
५. योगदर्शनम् सूत्र, २-५०, (महर्षि पतञ्जलि)
६. योगदर्शनम् सूत्र, २-५१, (महर्षि पतञ्जलि)
७. योगशास्त्र सूत्र, ५-१, (आचार्य हेमचन्द्र)
८. योगशास्त्र सूत्र, ५-३, (आचार्य हेमचन्द्र)
९. योगशास्त्र सूत्र, ५-१० (अ), (आचार्य हेमचन्द्र)
१०. योगदर्शनम् सूत्र, २-५२, (महर्षि पतञ्जलि)
११. योगदर्शनम् सूत्र, २-५३, (महर्षि पतञ्जलि)
१२. योगदर्शनम् सूत्र, १-३४, (महर्षि पतञ्जलि)

महावग्ग में औषधि एवं शल्य चिकित्सा

डॉ. दिवाकर लाल श्रीवास्तव*

भारत में औषधि एवं शल्य चिकित्सा का ज्ञान एवं उसका प्रयोग हमें प्राचीन काल से ही होता हुआ दिखाई देता है। वेद जो हमारी संस्कृति के प्राचीनतम दस्तावेज हैं, में अनेक ऐसी वनस्पतियों के नाम मिलते हैं जिनका उपयोग विभिन्न प्रकार की औषधियों को बनाने में किया जाता था। अथर्ववेद में वृक्षों को देव के रूप में मानते हुए तथा औषधात्मक गुण से सम्पन्न बतलाते हुए उसे विषदूषणी^१ तथा पुरुषजीवनी कहा गया है - उन्मुञ्चन्तर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणी। 'विरुधो वैश्वदेवीः रुग्राः पुरुषजीवनी।^२ जल को दिव्य औषधि कहा गया है।^३ ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकि ब्राह्मण में वृक्षों तथा वनस्पतियों में औषधात्मक गुण होने के कारण तथा मानव जाति को नया जीवन देने के कारण उसे प्राण (जीवन) कहा गया है—'प्राणो वै वनस्पतिः।'^४ इसी प्रकार अथर्ववेद में वनस्पति को श्रेष्ठ मानते हुए विभिन्न रोगों पर विजय प्राप्त करने की बात करते हुए कहा गया है -

‘उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः।

उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्मां अभिदासति।।^५

अर्थात् हे वनस्पते! तू औषधियों में श्रेष्ठ है, अन्य वृक्ष तेरे लिए अनुगत हैं। जो रोग हमपर आधिपत्य जमाना चाहते हैं वे हमारे अधीन हो जायें।

महावग्ग में अनेक ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जिससे पता चलता है कि औषधि तथा शल्य चिकित्सा की जानकारी छठी शताब्दी ई.पू. तक पर्याप्त रूप में हो चुकी थी।

एक बार भगवान् बुद्ध जब अनाथ पिण्डक द्वारा निर्मित जेतवनाराम विहार में निवास कर रहे थे तो उसी समय भिक्षुओं में शीत ज्वर (मलेरिया) फैल गया जिसके परिणाम स्वरूप भिक्षु अत्यन्त कमजोर तथा दुर्बल दिखने लगे। तब भगवान् बुद्ध इस रोग का उपचार ढूँढ़ने लगे। उन्होंने ऐसी औषधि को देने की बात सोची जो इनके लिए औषधि का भी कार्य करे तथा साथ ही साथ आहार के रूप में भी शरीर को स्वस्थ रखने में सहायक हो। ऐसे पाँच तत्त्वों

* रीडर, इतिहास विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

को उन्होंने औषधि माना जो निम्न हैं—घी, मक्खन, तैल, मधु एवं फड़ित (गुड़)। क्योंकि ये पाँच तत्त्व ऐसे हैं जिसे लोग औषधि भी मानते थे तथा आहार के रूप में भी ग्रहण करते थे, अतः इन पाँचों तत्त्वों को लेने का विधान बताते हुए उन्होंने कहा—‘अतः भिक्षुओं अनुमति देता हूँ, इन पाँच औषधियों को पूर्वाह्न में लेकर इसका पूर्वाह्न में ही उपयोग करो’। परन्तु समय के साथ जब भिक्षुओं की हालत बिगड़ने लगी तो इन औषधियों के सेवन को उन्होंने असमय भी प्रयोग करने की अनुमति दे दी।

वनस्पतियों के जड़ों का महत्त्व औषधियों के रूप में कितना होता है इस बात को ध्यान में रखकर उसके उपयोग का विधान बताया गया है। ऐसा विवरण आया है कि एक बार जब भिक्षुओं को किसी बिमारी के उपचार हेतु जड़ वाली औषधियों की आवश्यकता महसूस हुयी तो उन्होंने भगवान् बुद्ध से इसके बारे में कहा तो भगवान् बुद्ध ने कहा कि ‘भिक्षुओं अनुमति देता हूँ कि मूल (जड़) वाली औषधियों की जैसे हल्दी, अदरक, वच, वचत्थ, अतीस, चिरायता, रवस, नागरमोथा या ऐसी ही अन्य मूल औषधियाँ जो कि न खाद्य हैं, न नित्य खाने के काम में आती हैं, न नित्य के भोजन के उपयोग में ही लायी जा सकती हैं उन्हें लेकर जीवन पर्यन्त साथ रखो ताकि वे रोग होने पर काम आ सकें। ऐसे जड़ों को रोग होने पर ही खाना चाहिए, स्वस्थ अवस्था में नहीं अन्यथा खाने वाले को दुष्कृत (दृक्कट) दोष लगेगा।’ उसके साथ ही साथ उन्होंने काथ (छाल से बनी) औषधियों के सेवन की आज्ञा भी दी है— जैसे नीम, कुटज, पटोल पत्र, नक्तमाल आदि। वर्तमान समय में भी नीम के औषधात्मक गुण को वैज्ञानिकों ने भली-भाँति माना है।

भगवान् बुद्ध ने विभिन्न प्रकार के वनस्पतियों के पत्ते जिसमें औषधि के गुण विद्यमान होते हैं— जैसे नीम का पत्ता, पटोल का पत्ता, तुलसी का पत्ता, कपास का पत्ता आदि का प्रयोग करने के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के फलों का प्रयोग औषधि के रूप में करने की आज्ञा दी है, जिसमें पीपल, मरीच, हर्षे, बहेड़ा, आमला या गोष्ठ फल आदि प्रमुख औषधि युक्त फल हैं।^{१०}

उस समय गोंद वाली औषधियों का प्रयोग भी व्यापक रूप से होता था तभी भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को जतु (गोंद) वाली औषधि जैसे हींग, हींग का सत्तू, हींग की गाँठ तथा क्षार (लवण) युक्त औषधि वाली वस्तु जैसे समुद्री नमक, काला नमक, सैन्धव नमक, खान से निकला बिड़ नमक आदि के सेवन की अनुमति दी।^{११}

यद्यपि बौद्ध भिक्षुओं के संघ में रूप, शृङ्गार, प्रसाधन आदि के उपयोग करने पर मनाही थी किन्तु इसके बावजूद भी भगवान् बुद्ध ने नेत्रों के रोग को ठीक करने की बात को ध्यान में रखकर अञ्जन को औषधि के रूप में उपयोग करने की अपनी स्वीकृति दे दी थी। एक उदाहरण मिलता है कि एक बार किसी भिक्षु को नेत्र रोग हो गया था इसी कारण दूसरे भिक्षु उसे पकड़कर शौचादि के लिए ले जाते थे। भगवान् ने यह सब देखकर कहा भिक्षुओं मैं अनुमति देता हूँ नेत्र रोग में अञ्जन लगाने की, जैसे काला अञ्जन, रस अञ्जन, रसीत अञ्जन, गेरू, व काजल आदि। साथ ही साथ इसमें सहायक औषधि जैसे चन्दन, तगर, कालानुसारी, तालीस एवं भद्रयुक्ता आदि मिलाने की अनुमति देता हूँ।^{१२}

विभिन्न प्रकार के रोगों के उपचार हेतु उपर्युक्त औषधियों के साथ-साथ भगवान् बुद्ध ने यह भी बताया कि उन औषधियों का सेवन किस प्रकार से किया जाय। एक बार जब आयुष्मान् पिलिन्दवच्छ को शिरोरोग हो गया तो भगवान् से पूछने पर उन्होंने कहा कि मैं शिर पर तेल रखने की अनुमति देता हूँ।^{१३} किन्तु इससे भी जब उनका यह रोग नष्ट नहीं हुआ तो इसके लिए भगवान् ने नया विधान बनाया तथा कहा कि मैं अनुमति देता हूँ तथ्य (सूँघनी) लेने की। इसके साथ ही साथ उन्होंने औषधि युक्त धूम्रपान की भी अनुमति दी जिसे चिलम में रखकर धूम्रपान किया जाता था।^{१४}

इसी प्रकार गौतम बुद्ध ने वात रोग में तेल में मद्य मिलाने की भी अनुमति दी क्योंकि एक बार जब आयुष्मान् पिलिन्दवच्छ को वात रोग हो गया तो वैद्यों ने उसके उपचार हेतु तैलपाक का उपयोग बताया इस बारे में जब भगवान् से पूछा गया तो उन्होंने तैलपाक की अनुमति दे दी। बाद में कभी इसी तैलपाक में वैद्यों ने मद्य मिलाने की अनुमति दी जिसे भगवान् ने स्वीकार कर लिया।^{१५} परन्तु समय के साथ जब भिक्षु अधिक मात्रा में मद्य मिलाकर उसे पीने लगे तो भगवान् ने कहा कि भिक्षुओं! वातव्याधि की अवस्था में तैल पाक में उतना ही मद्य मिलाया जाना चाहिए जिससे न उस तेल में मद्य का रंग आये न गंध और न उसके स्वाद का ही उसमें भान हो, उतना ही मद्य मिश्रित पाक पीने की अनुमति देता हूँ।^{१६} इससे स्पष्ट है कि जिन चीजों का प्रतिबन्ध संघ में किया गया था उसके औषधात्मक गुण को देखते हुए केवल आवश्यक मात्रा में उसके प्रयोग के विधान की अनुमति भगवान् बुद्ध ने दी थी।

गठिया रोग के इलाज के विषय में बताते हुए भगवान् ने कहा कि 'भिक्षुओं ऐसे समय में मैं अनुमति देता हूँ कि उन अंगों से रक्त को निकाल लेना चाहिए।

इतने पर भी जब वह रोग ठीक न हो तो ऋगंड (विषाण) विधि से रक्त चूसने की अनुमति देता हूँ।^{१९}

सर्पविष चिकित्सा के विषय में विधान बताते हुए एक विवरण आया है कि एक बार किसी भिक्षु को सांप ने काट लिया तो इस विषय में बताते हुए गौतम बुद्ध ने रोगी को चार महाविकटों के प्रयोग की अनुमति दी - १. गोबर, २. मूत्र, ३. राख, ४. मिट्टी।^{२०} इसी प्रकार जब एक भिक्षु ने विष पी लिया तो ऐसे में भगवान् ने गोबर पिलाने की अनुमति दी।^{२१}

पाण्डु रोग की चिकित्सा के विषय में उल्लेख मिलता है कि एक बार जब किसी भिक्षु को पाण्डु रोग हो गया तो भगवान् ने इसके उपचार हेतु गोमूत्र मिश्रित हरीतकी (हरें) के प्रयोग की अनुमति दी।^{२०}

तालाब में उत्पन्न होने वाली चीजों का उपयोग औषधि के रूप में करने की अनुमति भी भगवान् ने दी। एक बार जब सारिपुत्र के सारे शरीर में जलन होने लगी तब महामौद्गलायन के पूछने पर कि यह जलन कैसे ठीक होगी, सारिपुत्र ने स्वयं बताया कि यह कमल जड़ और कमल नाल से ठीक होगा। तब मौद्गलायन ने उसे वह लाकर दिया जिसके सेवन से उसके शरीर की जलन ठीक हो गयी।^{२२}

ऐसा प्रायः देखा गया है कि बौद्ध हिंसा का विरोध करते हैं, पशु हिंसा को ठीक नहीं मानते, परन्तु स्वयं भगवान् बुद्ध ने औषधि के रूप में पशुओं का मांस, वसा तथा उसके रक्त उपयोग की अनुमति दी है। एब बार जब किसी भिक्षु को प्रेत बाधा लग गयी तथा वैद्य लोग उसे निरोग नहीं कर पाये तो इससे परेशान होकर उस रोगी ने सुअर मारने के स्थान पर जाकर सुअर का कच्चा मांस एवं कच्चा रक्त पी डाला। इससे उसकी प्रेतबाधा समाप्त हो गयी। जब उसने भगवान् से यह घटना बतायी तो उन्होंने कहा भिक्षुओं प्रेतबाधा होने पर कच्चे मांस तथा कच्चे रक्त के उपयोग की अनुमति देता हूँ।^{२३}

महावग्ग में वसा निर्मित औषधियों के उपयोग का भी उल्लेख किया गया है। वसा में मिश्रित औषधियों के सेवन के महत्त्व को ध्यान में रखकर गौतम बुद्ध ने इसके उपयोग के विधान की अनुमति दे दी तथा साथ ही साथ इसके सेवन के तरीके को भी स्पष्ट रूप से बताया। क्योंकि एक बार जब भिक्षुओं को एक रोग के उपचार हेतु इसकी (चर्बी युक्त औषधि) जरूरत पड़ी तो उन्होंने कहा 'भिक्षुओं में वसामिश्रित औषधियों के सेवन की अनुमति देता हूँ जिसमें रीछ, मछली, सुसका (सोंस की बड़ी मछली), सूअर, गधे की वसा मिली हो।

परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि इन्हें समय से लेकर, समय से पकाकर, समय से तेल मिलाकर सेवन करना चाहिए। इसके साथ ही उन्होंने यह भी बता दिया कि यदि ये औषधियाँ असमय में ली जाँय, समय से पकायी भी न जाँय तथा असमय तेल में मिलायी जाँय, तो ऐसी औषधि को जो खायेगा उसे त्रिविध 'दुष्कृत दोष' लगेगा^{२३}।

औषधि विज्ञान के साथ-साथ शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में भी बुद्ध के समय में व्यापक विकास दिखाई देता है। उस समय जीवक बिम्बिसार के दरबार का प्रमुख राजवैद्य जीवक वैद्य होने के साथ एक उच्च कोटि का शल्य चिकित्सक भी था। एक बार जब राजगृह का कोई श्रेष्ठी जो ७ वर्ष से शिरोरोग से पिड़ित था, तथा काफी पैसा धन-सम्पत्ति आदि खर्च करने पर भी उसके असाध्य रोग ठीक न हुए तथा कुछ वैद्यों ने भविष्यवाणी की कि यह आज से पाँच दिन बाद मर जाएगा तथा किसी ने सात दिन बार मरने की घोषणा कर दी तब राजा के आदेश से जीवक उसके इलाज करने को पहुँचा तथा निरीक्षण करने के बाद जीवक बोला, तुम ठीक हो सकते हो किन्तु इसके लिए तुम्हें ७ माह एक करवट, ७ माह दूसरे करवट तथा ७ माह उतान लेटना होगा। वह रोगी मान गया तब जीवक ने उसे मंच पर लिटाकर उसे बाँध दिया, तत्पश्चात् उसके सिर के त्वचा को फाड़कर खोपड़ी खोलकर चिमटी से एक बड़ा, तथा एक छोटा कीड़ा निकाला। तत्पश्चात् खोपड़ी को पुनः जोड़कर लेप लगा दिया। एक हप्ता बीतने पर श्रेष्ठी बोला मैं इस करवट नहीं लेट सकता भले ही मैं मर जाऊँ, तब जीवक ने उसे दूसरे करवट लिटा दिया। एक सप्ताह बीतने पर फिर उसने कहा मैं अब इस करवट नहीं लेट सकता तब जीवक ने उसे सीधे लिटा दिया किन्तु एक सप्ताह बीतने पर उसके उसी प्रकार के अनुरोध करने पर जीवक ने कहा यदि मैं सात मास की अवधि नहीं निर्धारित करता तो तुम इतना भी नहीं लेट पाते, मैं जानता था कि २१ दिन तुम्हारे रोग ठीक होने के लिए काफी थे। अब तुम बिल्कुल ठीक हो तथा अपना काम कर सकते हो। इस प्रकार जीवक के शल्य चिकित्सा से उस श्रेष्ठी का रोग बिल्कुल ठीक हो गया तथा उसे नया जीवन मिला।^{२४}

इसी प्रकार एक अन्य गृहस्थ की भार्या के ७ वर्ष से पीड़ित शिरोरोग को जीवक ने औषधि द्वारा ठीक कर दिया। घृत में विभिन्न प्रकार की औषधियों को मिलाकर उसके नथुनों में तथा नाक में डाला गया। घृत मुख के माध्यम से बाहर निकल गया इसके पश्चात् उस गृहस्थ की भार्या बिल्कुल ठीक हो गयी तथा काफी धन सम्पदा जीवक को प्राप्त हुआ।

एक बार स्वयं भगवान् का शरीर व्याधिग्रस्त हो गया था तो आनन्द ने जीवक के पास जाकर भगवान् बुद्ध के व्याधि का उपचार करने को कहा तब

८६ : श्रमण, वर्ष ६०-६१, अंक ४, १ / अक्टू.-दिसम्बर ०९-जन.-मार्च-१०

जीवक ने विभिन्न प्रकार के जड़ी बूटियों से बनी औषधि को भगवान् बुद्ध को दवा के रूप में ३० बार लेने को कहा जिसके उपरान्त भगवान् बुद्ध बिल्कुल ठीक हो गये।^{२५}

इस तरह से महावग्ग में उल्लिखित संदर्भ गौतम बुद्ध के समय के औषधियों की जानकारी तथा उपयोग विधि को प्रमाणित करते हैं। औषधियों के रूप में अधिकांशतः वनस्पतियों का ही उपयोग होता था किन्तु आवश्यकतानुसार मोम, वसा एवं रक्त का भी प्रयोग होता था। जीवक द्वारा किया गया मस्तिष्क की शल्य चिकित्सा क्लिष्ट शल्य चिकित्सा के विकसित होने का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

सन्दर्भ-सूची

१. अथर्ववेद, ८/७/१०।
२. अथर्ववेद, ८/७/४।
३. अथर्ववेद, ८/७/३।
४. (अ) ऐतरेय ब्राह्मण, २/४, (ब) कौषितिक ब्राह्मण, १२/७।
५. अथर्ववेद, ६/१५/१।
६. महावग्ग पाली, ६/१ (भैषज्यस्कन्धक-पञ्च भैषज्य कथा)
७. वही, ६/२। (मूलादिभेसज्जकथा)
८. महावग्ग पाली, ६/२। (भेसज्जक्खन्धकं-मूलादि-भेसज्जकथा)
९. वही, " "।
१०. वही, " "।
११. वही, " "।
१२. वही, " "।
१३. महावग्ग पाली, ६/२, (भेसज्जक्खन्धकं-मूलादिभेसज्जकथा)
१४. वही, " "।
१५. वही, " "।
१६. वही, " "।
१७. महावग्ग पाली, ६/२ (भेसज्जक्खन्धकं-मूलादिभेसज्जकथा)
१८. वही, " "।
१९. वही, " "।

२०. वही, " "।
२१. वही, ६/७ (भेसज्जक्खन्धकं-पटिग्गहितादिअनुजानना)
२२. महावग्ग पाली, ६/२ (भेसज्जक्खन्धकं-मूलादिभेसज्जकथा)।
२३. वही, " "।
२४. महावग्ग पाली, ८/४ (चीवरक्खन्धकं-राजगहसेट्ठिवत्थु)
२५. महावग्ग पाली, ८/७। (चीवरक्खन्धकं-त्रिंशद्विरेचनकथा)



जीवन

जीवन केवल सुख नहीं,
जीवन केवल दुःख नहीं।
सुख-दुःख से जीवन पूरा है,
किसी एक के बिना अधूरा है।
सुख में दुःख छिपा है,
दुःख में सुख छिपा है।
सुख का पूरक दुःख है,
दुःख का पूरक सुख है।
सुख हो व्यक्ति की सीमा में,
दुःख हो व्यक्ति की सीमा में।
संयम न छोड़ो सुख में,
धैर्य न खोओ दुःख में।
बिना कर्म कोई सुख नहीं
बिना कर्म कोई दुःख नहीं।
निज कर्म ही लाता है सुख को,
निज कर्म ही लाता है दुःख को।
अन्य कोई साधक नहीं।
अन्य को बाधक नहीं।
सुकर्म फलाता है सुख को
कुकर्म फलाता है दुःख को
कर्म ही जीवन-धरता है,
कर्म ही जीवन-हरता है।
दुष्कर्म तजो सद्कर्म करो
आलस्य तजो संघर्ष करो।
संतों ने यही सुनाया है।
धर्मों ने यही बताया है।
-डॉ. बशिष्ठ नारायण सिन्हा
कृष्णपुरी कालोनी, वाराणसी

ENGLISH SECTION

- Development of Jaina Yoga
- Sāmāyika
- A Study of Jain Monastic Life

DEVELOPMENT OF JAINA YOGA

Dr. Ashok Kumar Singh

The soul, in Jaina tradition, is innately blessed with four infinites (*anantacatuṣṭayas*: infinite faith, infinite knowledge, infinite conduct and infinite virility). Its infinity is obscured and obstructed on account of the bondage of karmic matter to it. Solely, the soul and no one else is answerable for the deterioration in its pure nature. However, it is also capable of regaining its pure nature on its own. It requires the means of three jewels (Right attitude, Right knowledge and Right conduct)¹ constituting the path to liberation, to retain or realize its innate nature. In *Uttarādhyayana-sūtra* (as an exception) this path to liberation is instructed as four-fold -Right knowledge, faith, conduct and austerity²). This three or four-fold path is Yoga as Ācārya Haribhadra propounded 'whatever leads one to emancipation is *Yoga*'³.

Jaina canonical literature contains significant material on Jaina Yoga though, mostly, as stray references. Canonical texts include *Aṅga*, *Upāṅga*, *Mūlasūtra*, *Chedasūtra*, *Cūlikā* and *Prakīrṇaka* texts (composed during fifth century B.C. to fifth century. A.D). Whenever one thinks of Jaina Yoga, the first idea that comes to mind is how to act in accordance with the Haribhadra definition of Yoga. What to include within the purview of Yoga and what to leave without from a very vast and minutely treated theme of the three Jewels. But, on the other hand, it also gives liberty to treat any subject related with Jaina spirituality as that of Jaina Yoga. However, from the very beginning, *Dhyāna*, *Samādhi* and Yoga represented the Jaina Yoga and liberally speaking was used as synonyms. In early literature the terms *samādhi* and *dhyāna* were more in trend than the term Yoga. The term *Dhyāna* as a type of

* Associate Professor, B.L.I, Delhi

internal austerities and Yoga as the activity of the mind, speech and body, has occurred repeatedly in Jaina canons.

This article is an attempt to present the Jaina concept of meditation in a historical perspective on the basis of *Ardhamāgadhi* Jaina canons, under the following heads:

1. Meaning of the terms
2. Its beginning and initiator
3. Qualification
4. Preparation
5. Types
6. Aims
7. Objects (*ālambana*)
8. Disposition of mind and conducive activities
9. Distractions
10. Posture
11. Place
12. Proper time
13. Consequences or fruits
14. Instances
15. Supernatural powers.

Meaning of the Term

The term *Yoga* derived from root 'yuj' with suffix 'ghāñ' has several connotations in canonical texts. Its first occurrence in Jaina canons is in the *Ācārāṅga* and in the sense of the activity of mind, speech and body.⁴ In *Ācārāṅgacūlā*, it connotes union, contact, combination.⁵ It is the term *Yoga* occurred in *Sūtrakṛtāṅga* I, that may be treated as denoting the control of the vibratory activity of mind that is *Yoga*.⁶ In *Uttarādhyayana* also it is used in the same sense⁷. In *Jñātādharma-kathā*⁸, it gives the meaning of the acquisition of an acquired object. It is for the first time used in *Praśnavyākaraṇa*⁹ in the sense of the art of fascination and in the

sense of salutary physical activity such as *pratīkhanā*¹⁰. The related terms *Yogavān* connotes restraint¹¹, *Yogavāhitā* stands for continuity of *Samādhi*¹². The term *Samādhi* is prevalent in two senses in canonical texts-peace of mind and religion in the form of scriptural conduct.¹³ *Samādhipratimā* stands for a vow relating to the concentration of mind or a conduct prescribed by the scriptures.¹⁴

Beginning and initiator of Yoga Tradition

According to Jaina tradition Seer Ṛṣabhadeva was the first to instruct Yoga to his sons on the eve of Bharata-Bāhūbali war.¹⁵ Ācārya Śrī Ātmānanda Jī opined that Hiranyagarbha of *Mahābhārata*¹⁶, the innovator of Yoga in Vedic tradition, is in fact Ṛṣabhadeva because he was also known as Hiranyagarbha. *Śrīmadbhāgavat*¹⁷ also refers to him as Lord of Yogins (*Yogīśvara*).

Qualification for Yoga

The human beings born in fifteen *karmabhūmis* (lands of action) are capable of liberation¹⁸ in other words eligible for Yoga. Human beings are of two types- liberatables and non-liberatables. The human beings with Right faith or belief or attitude only can proceed on path of spirituality or qualify for the practice of Yoga. Because without (Right) faith there is no (Right) knowledge; without (Right) knowledge there is no virtuous conduct, without virtuous conduct there is no deliverance, and without deliverance there is no perfection. Thus, only a human being with Right attitude (faith in Jina Order) is eligible for practicing Yoga. The meditation of heretic (*mithyādrṣṭi*) monks has been compared to that of herons (*kaṅkas*). However, Jaina tradition accepts that people from other faiths (*Anyalīngasiddha*) also may liberate¹⁹ the one edition of *Nandīsūtra* (Byavar) enumerates Patañjali among false scriptures.

Preparation for Yoga

Samavāyāṅga enumerates thirty-two auspicious activities of the mind, speech and body, which may be considered as *Pūrvasevā* :

1. Confession (*ālocanā*)
2. Not sharing the secret with others confined to (him or her) (*niravalapa*)

3. Firmness in adversity (*āpatsu dṛḍhadharmatā*)
4. Penance sans desire of worldly fruit (*anīśrita upadhāna*)
5. Learning (scriptures) (*śikṣā*)
6. Want of the beautification of body (*niṣpratīkarmatā*)
7. [For fame] Not to reveal one's penance etc. (*ajñātātā*)
8. Want of greed (*nirlobhatā*)
9. Forbearance (*titikṣā*)
10. Straightforwardness (*ārjava*)
11. Purity (*śuci*)
12. Right faith (*samyagdr̥ṣṭi*)
13. Absolute meditation (*samādhi*)
14. [Observance of specific] Conduct (*ācāra*)
15. [Observance of] Modesty (*vinayopagata*)
16. Courageous (*dhṛtimati*)
17. Aspiration for Salvation (*samvega*)
18. Concentration of mind free from deceit (*prañidhi*)
19. Observance of prescribed rite (*suvīdhi*)
20. Stoppage (*samvara*)
21. Doing away with one's own blemishes (*ātmadoṣapahāra*)
22. Devoid of all desire (*sarvakāmviraktatā*)
23. Renunciation pertaining to five major vows (*mūlaguṇapratyākhyāna*)
24. Renunciation pertaining to five subsidiary vows (*uttaraguṇapratyākhyāna*)
25. Abandonment (*vyutsarga*)
26. Vigilance (*apramāda*)
27. Observing pure conduct with constant vigilance (*apālāpa*)

28. Stoppage (of influxes) for (righteous and pure) meditation (*dhyānasa'varayoga*)
29. Uphold tranquility at the fruition of severe *karma*
30. Abandoning attachment after careful consideration (*saṅgaparijñā*)
31. Conform to expiation (*prāyaścittakaraṇa*)
32. Abandoning food till death (*māraṇāntika-ārādhana*). *Āvaśyakasūtra*²⁰ also refers to *Yogasāṅgraha*. In fact *Pūrvasevā* of *Yogabindu*, *Yogabja* or *Yogadṛṣṭisamuccaya* and *Laukikadharmā* of *Yogaśataka* of Haribhadra are the same.²¹

Types of Yoga and Meditation

Samādhiyoga,²² *Dhyānayoga*,²³ *Bhāvanāyoga*,²⁴ *Adhyātmayoga*²⁵ and *Samatāyoga*²⁶ occurred in Jaina canonical texts are treated as particular types of Yoga. *Sūtrakṛtāṅga*²⁷, *Uttarādhyayana*²⁸ and *Daśavaikālika*²⁹ mentions *Samādhiyoga* as a particular type of meditation. *Dhyānayoga*³⁰ is one of the types of Yoga consisting of the meditation of mind, speech and body. *Bhāvanāyoga*³¹ is accorded prime importance in canons for purity of the soul. The soul purified by meditating on those reflections is compared to a ship in water, like a ship reaching the shore he gets beyond misery. The four *Bhāvanās maitri, pramoda, kāruṇya* and *mādhyasthya* are essential part of *Bhāvanāyoga*. The two auspicious meditations *Dharma* and *Śukla* also have four *Bhāvanās* each. For safeguarding the five great vows five *Bhāvanās* have been prescribed for each. For the purity of conduct the practice of *Adhyātmayoga* being essential an aspirant is instructed time and again to be engrossed in *Adhyātmayoga*³². *Samatāyoga*: canonical texts maintain that an absence of attachment and aversion in friend or foe, jewel or stone, gold or soil is the state of equanimity³³.

Coming to the four types of meditation-*Ārta*, *Raudra*, *Dharma* and *Śukla*, none of these is mentioned explicitly in *Ācārāṅga* I and *Sūtrakṛtāṅga* I, considered to be the earliest of the

canons. In *Mahāvīrastuti, Sūtrakṛtāṅga* I, it is mentioned about Mahāvīra that he practised the highest meditation, the purest of pure, pure without a flaw, thoroughly white like mother of pearl and the monk³³. *Ācārāṅgacūlā*³⁴ mentions the last two types of meditations: *Dharma* and *Śukla*.

Samavāyāṅga also enumerates four types of meditation. *Praśasta Dhyāna* and *Apadhyāna* are mentioned for auspicious and inauspicious, respectively. Four types of meditation *Ārta*, *Raudra*, *Dharma*, *Śukla*, their sub-species four of each, their characteristics, *ālambana* and *anupreksā* of *Dharma* and *Śukla Dhyāna* are found in *Sthānāṅga*, *Bhagavati-sūtra* and *Aupapātika*. There is some anomaly in the description, which has been pointed out by Ācārya Mahāprajña. He points out that as the characteristic of *Dharmadhyāna* in *Sthānāṅga*³⁵ (4/66) and *Bhagavatī*³⁶ (25/6) in place of *Upadeśaruci* of *Aupapātika*³⁷ (*Sūtra* 43) *Avagādharuci* is found. While elsewhere in *Sthānāṅga*³⁸ and *Uttarādhyayana*³⁹ *Upadeśaruci* is found. In *Bhagavati-sūtra* the characteristics (*lakṣaṇas*) of *Śukla Dhyāna* occur as the objects (*ālambanas*) and vice a versa. While in *Sthānāṅga* and latter literature the tradition of *Aupapātika-sūtra* is maintained.

Regarding the sub-species of *Śukla Dhyāna* also some differences are visible. In *Aupapātika*⁴⁰ (*sūtra* 43) and *Uttarādhyayana*⁴¹ *Sūkṣmakriyā-Apratipatti* and *Samucchinakriyā-anivṛtti* are found while in *Sthānāṅga*⁴² and *Bhagavati*⁴³ *Sūkṣmakriyā-anivṛtti* and *Samucchinakriyā-Apratipatti* are found. Latter tradition conforms to that of *Aupapātika* and *Uttarādhyayana*.

Aims of Meditation

The meditation being an effective process for annihilation of *Karma*, the text *Ācārāṅga*⁴⁴ instructs that as fire consumes the worn out wood exactly so as an ascetic, engrossed in meditation and inflicted by passions, shakes, subjugates and desiccates the karmic body. In *Bhagavatisūtra*⁴⁵ the monks are instructed to annihilate the eight types of *Karmas* with excellent *Śukla* meditation. The relevant reflections (*Bhāvanās*) are to be meditated through two auspicious

types or meditation for safeguarding the great vows of non-violence, celibacy and non-stealing⁴⁶

Objects of Meditation

Ācārāṅga, the first and the earliest of the Jaina canonical texts throws light on the practice of meditation of Mahāvīra himself. Mahāvīra meditated concentrating on the objects upper, lower and horizontal regions of the *Loka* (Universe/body). *Loka* is interpreted as suggesting both the universe and the body. He also meditated penetrating into the depths of his soul. An ascetic is instructed to identify the present moment of the existence of body. Solidarity state of the self, transitoryness, lack of refuge etc. are the objects to be meditated upon according to *Ācārāṅga*. The instance of Mahāvīra meditating internally fixing his eyes on the will before him for a period of hours together with his eyes wide open yet unblinking is interpreted as the practice of *Trāṭaka*. *Bhagavatī-sūtra*, in two *sūtras* mentions that lamp light should be made the object of meditation. *Prakīrṇaka* texts mention auspicious as well as inauspicious meditation. It is advised to meditate on *Navakāraṃ*. *Ācārya* Atmārāma describes the method of meditating on *Navakāraṃ*. According to him one should pronounce *Namo* while inhaling and *Arihantāṇam* while exhaling thus complete the process in five breaths. The repetitions ranging between 30 to 35 times are likely to bring relaxation and cause the focus inward. The sufferings of the body, limbs of women etc. are not to be made the object of meditation. *Āturapratyākhyāna* enumerates sixty three objects which are treated as inauspicious objects of meditation, and if willingly or unwillingly meditated these are to be repented and are subject to *pratikramaṇa*.

Disposition of Mind

From *Ācārāṅga* I, we also learn about the mental disposition Mahāvīra had while meditating. He was completely calm and poise, free of passions and all kinds of attachments while meditating. His mind was fixed only on *Samādhi* he had no care for his food etc. In spite of the distraction caused by hostile people he would remain rapt in meditation. *Samavāyāṅga* and *Chedasūtra*

Daśāśrutaskandha mentions that in a pure mind free from attachment and hatred the meditation in form of the concentration of mind unprecedented is feasible. These ten means of mind concentration (*citta-samādhi*) are : religious meditation or that unprecedented (desire) born to know the whole religion, dreaming or that unprecedented dreaming conforming the reality (*yathātathya*), knowledge of the rational five sensed being or that unprecedented knowledge recollecting the past life, beholding the god or to behold that unprecedented divine attainments of gods, divine luster of gods, divine powers of gods, origin of unprecedented clairvoyance knowledge or that universe (i.e. matter) knowing clairvoyance, origin of unprecedented clairvoyance belief or that universe (i.e. matter) perceiving clairvoyance, origin of unprecedented telepathy or that knowing the modes of the minds of the two and half continent and sea's rational beings'; of five-sensed [beings] and of [beings] acquired completion, origin of unprecedented perfect knowledge or that whole (*kevala*) universe knowing (knowledge), origin of unprecedented perfect belief or that whole (*kevala*) universe knowing (Knowledge), origin of unprecedented perfect belief or that whole (*kevala*) universe perceiving belief, death in stage of perfect knowledge or death for annihilation of entire miseries.⁴⁷

Activities conducive for meditation

Not to speak untruth is perfect *Samādhi*.⁴⁸ For meditation purity of conduct is necessary, pursuing meditation without knowing the truth is useless.⁴⁹ *Daśāśrutaskandha* also refers to ten conditions causing *Samādhi*.

Posture

The ninth chapter *Upadhānaśruta* of *Ācārāṅga* is an illustration of the role assigned to meditation in the life of an ascetic. The posture *Ukkuduāsaniya* (*Utkuṭukāsaniya*) associated with Mahāvīra is found several times in canonical texts.⁵⁰ The Posture of *Gūhikā* (milking cow) is mention in, *Ācārāṅgacūlā*, 15/38, *Sthānāṅga*, 5/50 and *Daśāśrutaskandha* 7/30. The posture *Virāsana* occurs in *Sūtrakṛtāṅga* (2/2/66), *Sthānāṅga*, 5/43,7/49, *Bhagavatī*, 2/62, 25/271, *Jñātādharmakathā*, 1/1/200,

Praśnavyākaraṇa 6/6, *Aupapātika* 36, *Daśāśrutaskandha* 7/30 and *Bṛhatkalpasūtra* 6/23. Mahāvīra is depicted as meditating by exposing himself to scorching heat of the sun in summer and in shade in winter. A monk is depicted as fully engrossed within self in meditation with his knees up and face cast low (*Aupapātika-sūtra*, 45, 48). *Daśāśrutaskandha* and *Bṛhatkalpasūtra* name certain postures prohibited for nuns but allowed to monks. These are *Utkāṭukāsana*, *Vīrāsana*, *Daṇḍāsana*, *Lakuṭāsana*, *Uttānāsana* and *Āmra kubjikāsana*.

Place

Mahāvīra is said to have meditated generally in secluded places. He is said to have meditated in a park also at the outskirts of a village. He is depicted as meditating in midst of the places crowded with householders. *Bṛhatkalpasūtra* prohibits the monk to meditate in the monasteries of nuns and vice-a-versa⁵¹.

Time of Meditation

Meditation included in the internal austerities, is instructed to be practiced in second part of the day after Self-study (*Svādhyāya*). *Jñātādharma-kathā* explicitly mentions that one should meditate in the second part of the day.⁵² After having learnt his lesson he should meditate by himself⁵³. A monk is advised to do what is appropriate for each period of life.⁵⁴ A monk should divide the day and night into four equal parts and should meditate in the second parts of day and night.⁵⁵

Distraction of Meditation

The second text *Sūtrakṛtāṅga*⁵⁶ maintains that those engaged in pleasures are unable to know meditation. Again those censuring a monk with a holy conduct are far off from perfection.⁵⁷ Interacting with women implies that a monk has ceased to practice meditation.⁵⁸ One despising others on account of his intellect does not retain *Samādhi*⁵⁹. The meditation practiced by heretical monks for pleasure is compared with that of dhankas, herons (*kanka*) ospreys (*kurara*) etc. meditating upon fish⁶⁰ and is said to be very inauspicious and sinful meditation. *Sūtrakṛtāṅga* gives twenty activities which are not fit for equanimity. Twenty sources

(*sthānas*) of mind-distractions (*asamādhi*) (of monks and nuns) are expounded, for example.

- (i) Plodding in haste
- (ii) Not disposed to cleanse vessels, ground etc. (by whisk broom of woolen tufts)
- (iii) Walking without brushing the ground in right manner (by whisk broom of woolen tufts)
- (iv) Possessing additional beddings
- (v) Reproving the elder/superior monks
- (vi) Humiliating the elder/superior monks (by finding fault with)
- (vii) Causing injury to the beings (one-sensed)
- (viii) Smoldering
- (ix) Flying into rage
- (x) Backbiting
- (xi) Making unqualified (not restricted) speech
- (xii) Causing irrupt new conflicts or dissensions
- (xiii) Causing arise, the old acquitted or subsided dissensions
- (xiv) Remain with dusty hands and feet
- (xv) Studying (scriptures) at improper time
- (xvi) Given to quarrelling
- (xvii) A booster
- (xviii) Causing dissensions (in the sect by intrigues)
- (xix) Frequent eating from morning till evening
- (xx) Lax in alms begging.

Āvaśyakasūtra mentions twenty distractions of mind.⁶¹ Similarly *Daśāśrutaskandha* also enumerates twenty vocal and physical activities non-conducive to tranquility of mind.

Consequences or Fruits of Meditation

Sūtrakṛtāṅga expounds that the excellent monks possessed

with excellent *Samādhi* and *Dhyānayoga* take rebirth as divinities⁶². One engaged in two auspicious meditations is likely to get rid of the cycle of transmigration and will arrive at beatitude after death.⁶³ One abstaining from constant thinking about his misery and sinful des but is engaged in two meditations, develops white *Leśyā*.⁶⁴ Those mendicants who cease from meditation will be born again as demons.⁶⁵ Inauspicious meditation is one of the three great causes of re-birth. One dying with mournful meditation is to be born as sub-human being or an animal or plant. One practicing *dharma* and *Śukla Dhyāna* is likely to take birth as a celestial god. For attaining monkhood and to take birth in heaven one is advised to practice these two meditations. By meditation and severe penances one ends the four states of existence and enjoys the fifth state i.e. liberation.

Instances of Meditation

The practice of meditation by Mahāvīra in *Ācārāṅga*, by a monk in *Aupapātika*, is instances of auspicious meditation. *Nandīsūtra* mentions that Āryamaṅgu practised *Dharmadhyāna*.⁶⁶ There are a number of instances of mournful (*Ārtta*) meditation in canonical texts. *Rājaprasnīya* and *Nirayāvalikā* contain the instances of mournful (*Ārtta*) meditation. Queen Kālī is depicted as resorting to mournful meditation owing to the worry over the fate of his son, who has gone to the battlefield. Subhadrā being issueless was extremely dejected and was engaged in mournful meditation.⁶⁷ A man is engaged in mournful meditation.⁶⁸

Supernatural Powers

To wish to acquire an exalted state by penances is the temporal achievement of austerity and is discarded for monks⁶⁹ *Bhagavatīsūtra*⁷⁰ also enumerates the Supernatural powers attained through the practice of Yoga. A monk might by the fire of his wrath reduce millions of men to ashes⁷¹. By repetition, he reproduces the sounds (syllables) and commits them to memory.⁷² Some had the power of curing all diseases with their nasal oozing (*khela*), bodily sweet (*vipra*) and touch (*āmarṣa*).

Thus we may conclude that contrary to the general assumption that Jainas from the very outset put their whole emphasis on

physical austerity and more or less neglected the aspect of meditation and self-concentration, Jaina mind was always conscious of the value of meditation for the achievement of final emancipation. Self-realization was the only aim to be fulfilled by Yoga. In realization of the self or ultimate truth as well as in knowing the self, human cognitive faculties have obvious limitations hence transcending these usual sources of knowledge is essential. For sure, *Mokṣapāhuḍa* and *Samādhitantra* of Kundakunda (c. 2nd cent. BC to 4th cent. AD), *Tattāvarthasūtra* of Umāsvāti (3rd-4th cent. AD), *Iṣṭopadeṣa* and *Samādhiśataka* of Pūjyapāda (5th-6th cent. VS), the *Paramātma-prakāśa* and *Yogasāra* of Yogindueva (6th cent. AD) and Yoga works of Ācārya Haribhadra (7th-8th cent. AD) and Hemacandra (12th cent. AD) have very thoroughly discussed the method of self-realisation i.e. Yoga. Though the works of Upādhyāyaya Yaśovijaya (18th cent. AD) etc. Ācāryas this tradition of exposition of Jaina Yoga continued. But the genesis and development of this concept of Yoga can be traced in the canons itself. The preservation of equanimity, consciousness of the evil nature of worldly existence, utmost indifference to the worldly things and constant state of vigilance are of supreme importance in this tradition. In Jaina Yogic practices contemplation also is given significance along with the concentration. The description of Yoga in Jaina canonical texts conforms and strengthens the central theme of Jaina spirituality.

1. Meaning of the terms: Yoga in real sense of the Yogic practices has its maiden occurrence in *Sūtrakṛtāṅga*.⁷³
2. Beginning and initiator, Ṛṣabhadeva.⁷⁴
3. Qualification, human beings born in fifteen *karmabhūmis* (land of action) with right attitude are capable of liberation.⁷⁵
4. Preparation, *Samavāyāṅga* enumerates thirty-two auspicious activities of the mind, speech and body may be considered as *Pūrvasevā*.⁷⁶
5. Types, *Sūtrakṛtāṅga* (*Sūtrakṛtāṅga*, 1/4/16), *Dhyāna-yoga* (*Sūtrakṛtāṅga*, 1/8.27), *Bhāvanāyoga* (*Sūtrakṛtāṅga*, 1/15/5),

Adhyātmāyoga (*Sūtrakṛtāṅga*, 1/16/5) and *Samatāyoga* (*Ācārāṅga*, 1/34 vide *Sūtrakṛtāṅga* I-Mahāvīra practised the highest meditation, the purest of pure, pure. *Ācārāṅgacūlā* mentions only *Dharma* and *Śukla*, *Sūtrakṛtāṅga* enumerates four types of meditation. *Sthānāṅga* enumerates with details for the first time *Bhagavatī* and *Aupapātika* also do the same thing.

6. Aims, through auspicious meditations to annihilate the *Karmas*.⁷⁷
7. Objects (*ālambana*), Loka (Universe/body, *Ācārāṅga*, lamp light *Bhagavatī-sūtra*, *Navakāraṃaṃtra*, *Āturapratyākhyāna* enumerates sixty three objects-inauspicious for meditation.
8. Disposition- *Ācārāṅga* I, the mental disposition of Mahāvīra completely calm and poise, free of passions and all kinds of attachments.
9. Activities conducive for meditation not to speak untruth is perfect *Samādhi*.⁷⁸
10. Posture- *Ukkudūāsāṇiya* (*Utkuṭukāsānika*) associated with Mahāvīra is found several times in canonical texts.⁷⁹
11. Place- Mahāvīra meditated generally in secluded places. *Bṛhatkalpasūtra* prohibits the monks to meditate in the monasteries of nuns and vice a versa.⁸⁰
12. Time- *Jñātādharma-kathā* in the second part of the day (*Bīyāe porisīe jhāṇam Jhāyai*-1/1/34), (*Upāsakadasāṅga*, 1/70), *Vipākasūtra* 1/2/13). In the second parts of day and night *Uttarādhyayana*, 26/11-12, *Bīyam jhāṇam Jhiyāgai*-26/17-18).
13. Distraction- *Sūtrakṛtāṅga* - one engaged in pleasures (1/2/58); one censuring a monk with a holy conduct far off from perfection (1/3/47), interacting with women (*Sūtrakṛtāṅga* 1/10/2). *Sūtrakṛtāṅga*, *Āvaśyakasūtra*, *Daśāśrutaskandha* list twenty activities not fit for equanimity.

14. Consequences or Fruits- *Sūtrakṛtāṅga* - excellent monks possessed with excellent *Samādhi* and *Dhyāna-yoga* take rebirth as divinities, (*Pra.* 97), arrive at beatitude after death (*Uttarādhyayana*, 31/6, 32/109). Inauspicious meditation is one of the three great causes of re-birth.
15. Instances of Meditation- The practice of meditation by Mahāvīra in *Ācārāṅga*, by a monk in *Aupapātika*, are instances of auspicious meditation. *Nandīsūtra* mentions that Āryamaṅgu practised *Dharmadhyāna* (*Nandīsūtra*, 30). Number of instances of mournful (*Ārta*) meditation is found in canonical texts. ⁸¹
16. Supernatural powers- As temporal achievement of austerity are discarded for monks (*Uttarādhyayana* 2/44 and *Bhagavatī-sūtra* 8/2), by repetition, reproduces the sounds (syllables) and commits them to memory. (*Uttarādhyayana*, 29/22), power of curing all diseases with their nasal oozing (khela), bodily sweet (*vipra*) and touch (*āmarṣa*)

Particulars	<i>Sthānāṅga</i>	<i>Bhagavatī</i>	<i>Aupapātika</i>	<i>Uttarādhyayana</i>
Sub Types Ārta 35	1. Anīṣṭasamyoga	Anīṣṭasamyoga	Anīṣṭasamyoga	Ārta Raudra Dahma, Śukla 30/
	2. Iṣṭaviyoga	Iṣṭaviyoga	Iṣṭaviyoga	
	3. Ātaṅka	Ātaṅka	Ātaṅka	
	4. Pritikarakakama	Pritikarakakama	Pritikarakakama	
Signs Ārta	1. Krandanatā	Krandanatā	Krandanatā	
	2. Socanatā	Socanatā	Socanatā	
	3. Tcpanatā	Tcpanatā	Tcpanatā	
	4. Paridevanatā	Paridevanatā	Paridevanatā	
Sub Types Raudra	1. Hīnsānubandhī	Hīnsānubandhī	Hīnsānubandhī	
	2. Mṛṣānubandhī	Mṛṣānubandhī	Mṛṣānubandhī	
	3. Stenānubandhī	Stenānubandhī	Stenānubandhī	
	4. Sanraksananubandhī	Sanraksananubandhī	Sanraksananubandhī	
Signs of Raudra	1. Utsanna doṣa	Utsanna doṣa	Utsanna doṣa	

	2. Bahudoṣa	Bahudoṣa	Bahudoṣa	
	3. Ajnanadoṣa	Ajnanadoṣa	Ajnanadoṣa	
	4. Amaranantadoṣa	Amaranantadoṣa	Amaranantadoṣa	
Sub Types Dharma	1. Ajñāvicaya	Ajñāvicaya	Ajñāvicaya	Dharmadhyāna 18/4
	2. Apāyavicaya	Apāyavicaya	Apāyavicaya	
	3. Vipākavicaya	Vipākavicaya	Vipākavicaya	
	4. Sansthānavicaya	Sansthānavicaya	Sansthānavicaya	
Signs of Dharma	1. Ajña Ruci	Ajña Ruci	Ajña Ruci	Nisarga Ruci 28/4 Description of these in 28/16
	2. Nisarga Ruci	Nisarga Ruci	Nisarga Ruci	Upadeśa Ruci 28/4
	3. Sūtra Ruci	Sūtra Ruci	Sūtra Ruci	Ajña Ruci 28/4
	4. Avagāḍha Ruci	Avagāḍha Ruci	Avagāḍha Ruci	Sūtrabija Ruci 28/4
Ālambana Dharma	1. Vacana	Vacana	Vacana	
	2. Pratipṛcchanā	Pratipṛcchanā	ṛcchana	
	3. Parivartanā	Parivartanā	Parivartanā	
	4. Anuprekṣā	Dharmakathā	Dharmakathā	
Reflection Dharma	1. Ekānuprekṣā	Ekānuprekṣā	Anityānuprekṣā	
	2. Anityānuprekṣā	Anityānuprekṣā	Anityānuprekṣā	
	3. Aśarananuprekṣā	Aśarananuprekṣā	Ekatvānuprekṣā	
	4. Saṁsārānuprekṣā	Saṁsārānuprekṣā	Saṁsārānuprekṣā	
Sub types Śukla	1. Pṛthaktvavitarka Savicāra	Pṛthaktvavitarka Savicāra	Pṛthaktvavitarka Savicāra	Śukladhyāna 35/19
	2. Ekatva vitarka Avicāra	Ekatva vitarka Avicāra	Ekatva vitarka Avicāra	
	3. Śūkṣmakriyā Anivṛtti	Śūkṣmakriyā Anivṛtti	Śūkṣmakriyā apratipatti	Śūkṣmakriyā apratipatti 29/73
	4. Samucchinnakriyā Apratipatti	Samucchinnakriyā Apratipatti	Samucchinnakriyā anivṛtti	Samucchinna kriyāanivṛtti 29/73
Ālambana Śukla	1. Avtatha		Kṣānti	
	2. Asammoha		Mukti	
	3. Viveka		Ārjava	
	4. Vyutsarga		Mārdava	
Sings of Śukla	1. Kṣānti	Kṣānti	Viveka	
	2. Mukti	Mukti	Vyutsarga	
	3. Ārjava	Ārjava	Avyatha	
	4. Mārdava	Mārdava	Mārdava	

Reflections of Śukla	1. Anantavṛtti	Anantavṛtti	Apāya	
	2. Vipariṇāma	Vipariṇāma	Aśubha	
	3. Aśubha	Aśubha	Anantavṛtti	
	4.	Apāya	Apāya	Vipariṇāma

References:

- 1- *samyagdarśanañānacāritrāṇi-mokṣamārgaḥ, Tattāvarthasūtra, 1.1*
2. *nāṇam ca dansaṇam ceva, carittam ca tavo tahā. esa maggo tti paṇatto, jīṇehim varadansihim. -Uttarādhyaṇa, 28.2*
3. *mukkheṇa joyaṇāo jogo-Yogaviñśikā. 1*
4. *Ācārāṅga, 8/126, also in Sūtrakṛtāṅga, 1/1/4, 9, Sthānāṅga, 3/1/24, Bhagavatī, 3/3, 8/7, 25/1, Uttarādhyaṇa, 31/20, Daśavaikālika, 4/26*
5. *Ācārāṅgacūlā, Jogamuvāgaṇam 15/3, 5, 8, 26, 28, 29 and 38, Sthānāṅga, 9, Jñātādharmakathā, 11, Prajñāpanā 127/1,129/130, etc.*
6. *kuvanti santhavam tāhim pabbhaṭṭhā samāhi jogehim, Sūtrakṛtāṅga, 1/4/16.*
7. *Uttarādhyaṇa, 8/14*
8. *hṇaḡuṇo vi hu houm suhagurujogāi jaṇiya samvego, Jñātādharmakathā, 5*
9. *aparīṣeṣā mantā Jogā javā ya vijjā, jambhakā ya atthāṇi ya satthaṇiya ya sikkhāo ya āgamā ya savvāṇi- Praśnavyākaraṇa, 7/11, nakkhattam, sumiṇam, jogam, nimittam, mantram bhesajam,-Daśavaikālika, 8/51, Mantajogam kām bhūikammam ca ja pajamti-Uttarādhyaṇa, 36/264, Lakkhaṇavajjaṇa sumiṇam vijjam mantam jogam-Niśītha, 13/27.*
10. *Uttarādhyaṇa, 8/14*
11. *Sūtrakṛtāṅga, 1/2/1/11*
12. *Sthānāṅga 10/33*
13. *Sthānāṅga, 4/1*
14. *Sthānāṅga, 4/1*

15. *Sambujahaha kim na bujjaha, sambohi khalu pecca duṭṭaha no huvanmanti raio, no sulabham punaravi jiviyam, Sūtrakṛtāṅga, 1/2/1*
16. *Mahābhārata ,12/349/65*
17. *Bhagavān Rṣabhadevaḥ Yogīśvaraḥ, Śrīmadbhāgavata, 5/2/25*
18. *Bhagavatī-sūtra, 26/8/2, Jīvābhigamasūtra, 2/45*
19. *Sthānāṅga, 1/214-222, Nandīsūtra, 21*
20. *Āvaśyakasūtra, 38*
21. *Yogabindu 109-146, Yogadṛṣṭisamuccaya 22, 23, 27, 28 and Yogaśataka 25, 2622. Sūtrakṛtāṅga, 1/4/16*
23. *Sūtrakṛtāṅga, 1/8/27*
24. *Sūtrakṛtāṅga, 1/15/5*
25. *Sūtrakṛtāṅga, 1/16/5*
26. *Ācārāṅga, 1/34*
27. *Kuvamti sanhtavam tāhim pabbhaṭṭhā samāhijogehim Sūtrakṛtāṅga, 1/4/16*
28. *pabbhaṭṭhā samāhijogehim te kāmabhogarasasiddhā uvavajjanti āsure kāye, Uttarādhyayana 8/14*
29. *mahāgarā āyariyā mahesī samāhijoge suyasilabuddhie-Dasavaialika, 9/6*
30. *jhāṇa jogam samāhaṭṭtu-Sūtrakṛtāṅga, 1/8/27*
31. *bhāvaṇājoga suddhappā jale ṇāvā va āhiyā-Sūtrakṛtāṅga, 1/15/5.*
32. *ajjhappajoga suddhādāne uvadiṭṭhie thiappa, Sūtrakṛtāṅga 16/3, Praśnavyākaraṇa, 3*
33. *aṇuttaram jhāṇavaram jhiyāisusukhasukkam, Sūtrakṛtāṅga 1/6/16*
34. *dhammajjhāṇovagayassa, sukkajjhāṇamtariyāe, Ācārāṅgacūlā, 2/15/38*
35. *Sthānāṅga (4/66)*
36. *Bhagavatī (25/6)*
37. *Aupapātika-sūtra, 43*
38. *Sthānāṅga, 10/104*
39. *Uttarādhyayana, 18/16*
40. *Aupapātika-sūtra, 43*

41. *Uttarādhyayana* 29/73
42. *Sthānāṅga*, 4/69
43. *Bhagavatī*, 15/609
44. *Ācārāṅga*, 4/32-33
45. *maddāhi ya aṭṭhakammasattū jhāṇeṇam uttameṇa sukkeṇa-Bhagavatī-sūtra* 9/208
maddāhi ya aṭṭhakammasattū jhāṇeṇam utameṇa sukkeṇa appamatto Jñātādharmakathā, Ibid 1/1/143
46. *ṇiccam sajjhāyijjhāṇa- sā aṇupāliyābhagavatī, Praśanavyākaraṇa* 6/6, 6/20, 8/11, 9/19-20
47. *Daśāśrutaskandha*, 5/1-2
48. *musam ṇa bŷyā-kasiṇamsamāhi- Sūtrakṛtāṅga* 1/10/22).
49. *Sūtrakṛtāṅga* 1/11/25).
50. *Ācārāṅga* 9/4/4, *Ācārāṅgacūlā*, 2/65, 66, 7/54, 55, 15/38, *Sthānāṅga* 7/49, *Bhagavatī* 7/119 and 25/571, *Aupapātika* 36, *Ukkudiyatṭhiya- Jambūdvīpaprajñapti*, 2/133, *Uttarādhyayana*, 1/22, *Daśāśrutaskandha* 7/29, *Paryuṣaṇā* 81, *Bṛhatkalpasūtra* 5/23.).
51. *no kappai nigganthāṇam nigganthīṇa uvassayansi - Jhāṇam vā jhāittae. Bṛhatkalpsūtra*, 3/1-2).
52. *bīyāe porisīe jhāṇam Jhāyai*, 1/1/34), *Upāsakadaśā*, 1/70, *Vipākasūtra* 1/2/13
53. *kāleṇa ya ahijjittā tao jhāeja egago-Uttarādhyayana*, 1/10
54. *kāle kālam samāyare-Uttarādhyayana*, 1/31.
55. *divasassa cauro bhāge -bīyam jhāṇam jhiyāyai -Uttarādhyayana*, 26/11-12, *rattim pi cauro bhāge-bīyam jhāṇam jhiyāyai-26/17-18).*
56. *Sūtrakṛtāṅga*, 1/2/58
57. *Sūtrakṛtāṅga*, 1/3/47.
58. *Sūtrakṛtāṅga*, 1/10/2.
59. *Sūtrakṛtāṅga*, 1/13/14
60. *Sūtrakṛtāṅga* 1/11/27-28
61. *Āvaśyakasūtra*, 28
62. *Sūtrakṛtāṅga*, *Pra.* 97
63. *Uttarādhyayana*, 31/6, 32/109
64. *Uttarādhyayana*, 34/7

65. *Uttarādhyaṇa*, 8/14
66. *Nandīśūtra*, 30.
67. *Nirayāvalikā* 1/15, 3/98
68. *Rājaprasnīya* 765
69. *Uttarādhyaṇa*, 2/44
70. *Bhagavatī-sūtra*, 8/2
71. *Uttarādhyaṇa*, 18/10
72. *Uttarādhyaṇa*, 29/22
73. *Sūtrakṛtāṅga*, 1/4/4.
74. *Sūtrakṛtāṅga*, 1/2/1
75. *Bhagavatīśūtra*, 26/8/2, *Jīvābhigamasūtra*, 2/45
76. *Samavayāṅga* -*Samavāya* 32
77. *Ācārāṅga sūtra*, 4/32-33, *Bhagavatī-sūtra*, 9/208;
Jñātādharma-kathā, 1/1/143
78. *musam ṇa bñyā-kasiṇamsamāhi* / *Sūtrakṛtāṅga* 1/10/22
79. *Ācārāṅga* 9/4/4, *Ācārāṅgacūlā*, 2/65, 66, 7/54, 55, 15/38,
Sūtrakṛtāṅga 7/49, *Bhagavatī* 7/119 and 25/251, *Aupapātika* 36,
Ukkudiyatṭhiya- *Jambūdvīpaprajñapti*, 2/133, *Uttarādhyaṇa*, 1/
22; *Daśāśrutaskandha* 7/29.
80. *Bṛhatkalpasūtra* 3/1-2
81. *Nirayāvalikā* 1/15, 3/98



SĀMĀYIKA

Padmanabh S. Jaini

"One should forgive and help others forgive;
One should pacify oneself and help others to pacify themselves.

There is spiritual life for one who pacifies himself;
There is no spiritual life for one who does not pacify himself."

"Why is this said, Sir?"

"Because the essence of recluseship is pacification."

[*khamiyabbaṃ khamāyiyabbaṃ;
uvasamiyabbaṃ uvasamāyiyabbaṃ.
jo uvasamai tassa atthi ārahaṇā;
jo na uvasamai tassa n'atthi ārahaṇā.
taṃ ken' atthenaṃ bhante?
uvasamasāraṃ khu sāmāṇṇaṃ*]

In these memorable words an ancient Jain text sets forth, for the benefit of all aspiring souls, the quintessence of salvation.

The Jains, probably the oldest of the śramaṇas¹, have left a very rich spiritual legacy concerning bondage (*bandha*) and salvation (*mokṣa*)- the chief preoccupations of ancient India. Their community, most notably the laity, has preserved to this day an ancient method of purification called *sāmāyika*, which plays as significant a role as does *satipaṭṭhāna* (Mindfulness) in Buddhism.

The word *Jaina* means a follower of a Jina or 'spiritual victor'; this latter title was originally used both for Mahāvīra, the 24th Tīrthānkara², and for Gautama the Buddha. In historical times, the Jain ascetics were known as *Nigaṇṭhas* (Skt. *Nirgrantha*), the

* With curtsy from 'A Study of Kleśa', G.H. Sasaki, (Shimizukobundo Ltd., 2-4 Sarugaki-cho Chiyoda-ku, Tokyo, 1975), published originally as "Sāmāyika : A Jain Path of Purification".

'Unattached' ones, because of their renunciation of all possessions. In the case of the Digambara (sky-clad') sect of the *Nigaṇṭhas*, this renunciation extended even to clothing. But external renunciation was not an end in itself; rather it was symbolic of the detachment from internal "possessions", namely the *kleśas* or elements of moral defilement, which kept a soul in the bondage of transmigration (*saṃsāra*). The Buddhists- chief rivals of the Jains-were aware of this significance of the term *Nigaṇṭha*, as can be seen from Buddhaghosa's gloss: "He is called nigaṇṭha because of his claim: 'We possess neither the *kileśa* of bondage nor the *kileśa* of obstruction; we are free from the knots (*gaṇṭhi*) or *kileśa*."³

Although the term *kleśa* is not unknown to the Jains, they most often employ the equivalent expression *kaṣāya*, indicating a kind of concoction or dye which leaves a lasting stain. The Jains maintain that the soul (*jīva*) which is bound to the wheel or transmigration from beginningless time carries as it were this stain and remains in the state of impurity as long as the stain is not totally eradicated. The *kaṣāyas* are basically aversion (*dveṣa*) and attachment (*rāga*), which are elaborated as anger (*krodha*), pride (*māna*), deceit (*māyā*) and greed (*lobha*). Each of these is further divided into four, depending upon degree of intensity. The most durable of these is called *anantānubandhī*, the 'life-long' passions, which have accompanied the soul from beginningless time. They are responsible for prevention of the soul's progress in the path of pure conduct (*samyak-cāritra*), and also act as accessories to the karmic forces of *darśana-moha*, which block the soul's realization of its own true nature. This realization (called *samyak-darśana*) consists in the awareness that the soul is characterized by pure consciousness (*caitanya*), infinite knowledge (*ananta-jñāna*), and bliss (*ananta--sukha*), and further that it is totally distinct from the body the senses, the mind, and all their activities, whether morally wholesome (*puṇya*) or unwholesome (*pāpa*). It is only when the soul, by means of great exertion, overcomes these two forces-one blocking 'true insight' and the other preventing even rudimentary 'right conduct' - that it is able to climb the 'ladder of purity'

(*guṇasthāna*)⁴ and attain its innate and perfect state of omniscience (*sarvajñatva*).

The attainment of *samyak-darśana* is a turning point in the life of an aspirant. He experiences for the first time a tremendous surge of internal purity and a state of tranquility hitherto unknown to his soul. However, this experience can last only a short period, for although the soul will never again fall to the same depth of spiritual delusion from which it has emerged, and to that extent can be said to have entered an irreversible course, the initial state of purity is nevertheless not a permanent one. The Jains maintain that this state must be temporary, as it is gained by the suppression (*upaśama*) and not by the total destruction (*kṣaya*), of the relevant forces of *karma*, i.e. the *darśanamoha* and the *kaṣāyas* of the first degree of intensity. But suppression or temporary pacification (*upaśama-samyaktva*) does afford the aspirant a first glimpse, as it were, of the true nature of reality, and it gives him a taste of that bliss to which he will ever seek to return.

Once the suppressed karmic forces have asserted themselves, the individual falls away from his *upaśama-samyaktva*. Thereafter, he faces three alternatives: to grow sluggish and remain indefinitely in the state of *mithyātva* (wrong belief); to attain time and again to (the temporary) *upaśama-samyaktva*; to undertake with increasing energy, a final struggle against the karmic adversaries, until he destroys (*kṣaya*) the *darśana-mohanīya karma* and the *anantānubandhī kaṣāyas* for ever. If he carries out the last alternative, he comes to possess *kṣāyika-samyaktva*, a state comparable to the *darśana-mārga* of the Buddhists. A person who has reached this state is, like the Buddhist *sotāpanna*, destined to perfect his conduct (*sakala-cāritra*) and attain Arhatship within a few births, if not in the very same life time. For this reason, it is believed that the attainment of the *kṣāyika-samyaktva* is possible only under the most favorable circumstances, as for example the presence of a Tīrthaṅkara or his immediate disciples.

But such favorable circumstances are extremely rare, for although there are at present omniscient Jinas in other

'Worldsystems' (*dvīpas*), no Tīrthaṅkara currently resides in our planet (which is called the Jambūdvīpa). Indeed, Mahāvīra was the last Tīrthaṅkara of the present 'time-cycle', and no other such Teacher will arise here until, after numerous aeons, a new 'time-cycle' begins. It is therefore, reasonable to assume that this is a time and place in which one can hope to attain only the state of upaśama-samyaktva (or to re-attain this state if, as is likely, he has experienced it in previous births). Hence the Jain scriptures call upon human beings to utilize this life time to strengthen their 'self-realization' through various vows and rituals, so that the opportunity to attain the *kṣāyika-samyaktva* will not be missed for lack of proper preparation when the new Tīrthaṅkara once again appears on this earth.

The vows (*vratas*) consist of resolutions by which an aspirant voluntarily undertakes to refrain from unwholesome activities of body speech and mind. These unwholesome activities are: violence (*hiṃsā*), untruthfulness (*anṛta*), stealing (*steya*), unchastity (*abrahma*) and possession of worldly goods (*parigraha*). To the Jains, however, all of these may be subsumed under the first, for every kind of evil act is seen as a form of violence. This follows from their position that any such act must proceed from attachment (*rāga*) or aversion (*dveṣa*); and the presence of either of these injures one's own soul. Hence, violence to self takes place even in the absence of injury to another being.⁵ Refraining from such 'self-injury' is not easy for one who is constantly occupied with mundane existence. The Jain scriptures therefore prescribe a partial refraining from worldly activities (*deśa-virati* or *aṇuvratas*) for the laity and total refraining (*sakala-virati* or *mahāvratas*) for the ascetic or *Nirgrantha*. They further prescribe a set of rituals called 'necessary duties' (*āvaśyakas*)⁶ for both; these are temporary for the layman and life-long for the ascetic. The rituals are six in number: *sāmāyika* (attainment of equanimity), *caturviṃśati-stava* (praise of the 24 Jinas), *vandanaka* (worship of monks), *pratikramaṇa* (confession of past faults), *pratyākhyāna* (fore-fending of future faults) and *kāyotsarga* (the abandonment of the body =standing still

for a limited time). Although stated and performed separately, these six have in fact been generally integrated with the single practice called *sāmāyika*. This is the most important of Jain rituals; it has been performed continuously since the earliest historical time, as the Pāli literature attests, and it functions as the primary link between lay and ascetic practice.

The term *sāmāyika* is of uncertain etymology. Some take it as *āya* (attainment) of *sama* (equanimity), while others suggest the basic idea is *samaya*, 'fusion with the self.' The following verse gives us perhaps the most complete idea of what *sāmāyika* is :

"Equanimity towards all beings.

Self-control and pure aspirations.

Abandonment of every thought

Afflicted by desire and hatred.

That, truly, is considered *sāmāyika*."⁷

The Jain scriptures do not fix a definite time or require a given frequency for the performance of *sāmāyika*; even so, most Jain laymen regard that time of evening when work and meal are completed as most appropriate, with daily practice not uncommon and holy-day practice obligatory.

A lay aspirant who undertakes *sāmāyika* first withdraws to some solitary place, perhaps a temple, a monk's residence, or even a quiet room of his own dwelling. He lays aside all superfluous clothing, retaining only those garments required for a modicum of modesty.⁸ Having paid obeisance to the Jinās and to the monks, he seats himself in the cross-legged position on a mat and utters the following formula :

"I engage, Sir, in the *sāmāyika*, renouncing harmful activities, whether I have done them or caused them to be done by others; with neither mind, speech nor body shall I do them or cause others to do them. O Sir, I confess (these harmful acts); I reprehend and repent of them; I cast aside my former self."⁹

Next, in order to increase the tranquility of his mind, he begs forgiveness of the entire world of beings:

"I ask forgiveness of all beings,
 may all beings forgive me.
 I have friendship with all beings.
 and I have hostility with none.¹⁰

His mind thus put at ease, the aspirant further pacifies himself by reaching toward all beings through the four 'boundless states'. These correspond exactly to the '*brahmavihāras*' in Buddhism and to the 'cultivations for mental pacification' in the Yoga system:

"Friendship towards all beings
 Delight in the qualities of virtuous ones,
 Utmost compassion for afflicted beings,
 Equanimity towards those who are not well-disposed towards me,

May my soul have such dispositions (as these) for ever?"¹¹

In this atmosphere, the first purpose of the *sāmāyika* is attained, for the aspirant is now ready to contemplate the nature of his true self. The Jain teachers have composed several recitations to be used in such contemplation; we will here reproduce a short version of one such *sāmāyika-pāṭha*.¹²

"I have equanimity towards all beings.
 I have no enmity towards anyone
 Abandoning all attachments
 I take refuge in meditation.
 If, alas, any beings have been hurt by my desire,
 my hatred or my infatuation,
 May those beings forgive me
 Again and again I beg for their pardon."¹³
 "As long as I am seated in this meditation,
 I shall patiently suffer all calamities
 that may befall me, be they caused
 by an animal, a human being, or a god.
 I renounce, for the duration (of this meditation)
 My body, all food, and all passions.¹⁴
 "Attachment, aversion, fear, sorrow, joy,

Anxiety, self-pity...all these

I abandon with body, mind, and speech.

I also renounce all delight and all aversion
with regard to sexuality.¹⁵

"Whether it is life or death, whether gain or loss,
Whether defeat or victory, whether meeting or separation,
Whether friends or enemies, whether pleasure or pain,
I have equanimity towards all."¹⁶

"For in all of these I am (nothing but) my own self.
Forever endowed with right knowledge, true insight
and pure conduct.

And it is my own soul which renounces
all association formed in this world."¹⁷

"One and eternal is my soul,
Characterized by intuition and knowledge;
All other states that I undergo are external to me,
for they are formed by associations."¹⁸

"Because of these associations
my soul has suffered the chains of misery;
Therefore I renounce with body, mind and speech,
all relationships based on such associations."¹⁹

"Thus have I attained to equanimity?
and to the nature of my own self.

May this state of equanimity be with me
until I attain to my salvation."²⁰

Utterance of these verses will carry the aspirant to deep levels of meditation on the inner self. In that state, he tastes the bliss which comes from purification of the *kleśas*; thus he is confirmed in spiritual experience, albeit for a brief period, and he moves closer to eventual pursuit of the ascetic path.

The *sāmāyika* ritual is concluded with the universal prayer of the Janis :

"Cessation of sorrow,
Cessation of Karmas,
Death while in meditation,

Attainment of enlightenment.

O holy Jina! Friend of the entire universe let these be mine, for I have taken refuge at your feet."²¹

References

1. On the antiquity or the Śramaṇas and their non-Vedic doctrines, see my article 'Śramaṇas: Their conflict with Brahmanical society' in Chapters in Indian Civilization, Vol. I. pp. 39-81. (Kendall/Hunt, Dubuque, Iowa, U.S.A. 1970)
2. On the life of Mahāvīra and the history of the Jain Order of monks, see Hermann Jacobi (tr.) : Jaina Sūtras, part 1, Sacred Books of the East, xxii.
3. *amhākaṃ gaṇṭhanakilesa palibujjhanakilesa natthi, kilesaganthirahitā mayan ti evam vāditāya laddhanāmasena Nigaṇṭho*. MA. i, 423 (See Dictionary of Pāli Proper Names, Vol. II p. 64)
4. On the doctrine of *guṇa-sthāna*, see N. Tatia : Studies in Jaina Philosophy, pp 268-280, Jain Cultural Research Society, Banaras, 1951.
5. *aprādurbhāvaḥ khalu rāgādīnām bhavaty ahiṃseti/ teṣām evotpattir hiṃseti jināgamasys saṃkṣepaḥ// Pūruṣārthasiddhyupāya* of Amṛtacandra, 44. (The Sacred Books of the Jains, vol. IV. Lucknow, India, 1933)
6. For a detailed description of these rituals and also for the various vratas of the laity, see R. Williams : Jaina Yoga, London Oriental series, Volume 14, 1963.
7. *samatā sarvabhūteṣu saṃyamaḥ śubhabhāvanāḥ/ ārtaraudraparityāgas taddhi sāmāyikaṃ matam// Varāṅgacarita*, XV, 122.
8. Indeed, very advanced laymen of the Digambara sect may even become 'sky-clad' if they perform this ritual in their own quarters. It is probably this practice of temporary nudity among Jain laymen to which the Buddhists have alluded in a passage which is the most ancient reference to the *sāmāyika* ritual : *atthi Visākhe Nigaṇṭhā nāma samaṇajātikā, te ...tadah' uposathe sāvakaṃ evaṃ samādapenti : -ehi tvam ambho purisa sabbacelāni nikkhipitvā evaṃ vadehi-nāhaṃ kvaci kassaci kiñcanaṃ tasmim na ca mama*

kvaci kassaci kiñcanaṃ n'atthīti. Aṅguttaranikāya, part I, p. 206 (PTS edition).

9. *karemi bhante sāmāyaṃ sāvajjaṃ jogamaṃ paccakkhāmi jāva sahu pajjuvāsāmi duvihaṃ tivihenaṃ maṇeṇaṃ vāyāe kāyeṇaṃ na karemi karāvemi tassa bhante paḍikkamāmi nindāmi garihāmi appāṇaṃ vosirāmi.*" (Quoted in Wiṭiams' *Jaina Yoga*, p. 132).
10. *khāmemei savvajive savva jivā khamantu me/
metti me savvabhūyesu veraṃ majjh na keṇavi/ Āvaśyaka-sūtra.*
as quoted in R. Williams, *Jaina Yoga*, p. 207
11. *sattveṣu maitrīṃ guṇisu pramodaṃ/
kliṣṭesu jīveṣu kṛpāparatvam//
mādhyasthbhāvaṃ viparītavṛttau/
sadā mamātmā vidadhātu deva// Amitagati's Dvātriṃśikā. 1.*
12. Quoted from the *Nityapāthasaṅgraha*, Karanja.
13. *sāmyaṃ me sarvabhūteṣu vairaṃ mama na kenacit/
āsāḥ sarvāḥ parityajya samādhim aham āśraye//
rāgād dveṣāt mamatvād vā hā mayā ye virādhitā/
kṣāmyantu jantavas te me tebhyo mṛṣyāmy aham punaḥ//*
14. *tairāsaṃ mānavaṃ daivaṃ upasargaṃ sahe 'dhunā/
kāyāhārakaṣāyādīn pratyākhyāmi trisūddhitāḥ//*
15. *rāgaṃ dveṣaṃ bhayaṃ śokaṃ praharṣautsukyadinatāḥ/
vyutsrjāmi tridhā sarvān aratiṃ rati, eva ca//*
16. *jīvite maraṇe lābhe 'lābhe yoge viparyaye/
bandhāvarau sukhe duḥkhe sarvadā samatā mama//*
17. *ātmaiva me sadā jñāne darśane caraṇe tathā/
pratyākhyāne mamātamaiva yathā saṃsārayogayoḥ//*
18. *eko me śāśvataś cātmā jñānadarśanalakṣaṇaḥ/
śeṣā bahibhāvā bhāvāḥ sarve saṃyogalakṣaṇāḥ//*
19. *saṃyogamūlāḥ jīvena prāptāḥ duḥkhaparamparāḥ/
tasmāt saṃyogasambandhaṃ tridhā sarvaṃ tyajāmy aham//*
20. *evaṃ sāmāyikāt samyak sāmāyikam akhaṇḍitaṃ, vartatām...//*
21. *dukkhakkhao kammakkhao samāhīmaraṇaṃ ca bohīlāho ya/
mama hou jagadabandhava jinavara! tava caraṇasaraṇena//*

A STUDY OF JAIN MONASTIC LIFE

Dr. Sunil Kumar Jain*

The six century B.C. was the age of religious ferment and spiritual awakening. A number of thinkers are seen wandering with the assembly of their followers giving sermons related to the spiritual life. The norms related to the moral life, religious life and also the spiritual life are seen disgust by these teachers and the essence of the same are being given to the people. The atmosphere of the country is marked surcharged with such sublime resounding and the impact of the same is a visible fact on the society.

The Mahāvīra appeared in 6th century B.C. and flourished for about three quarter of a century. He established his religious order on sound footing, and prescribed monastic life, and framed rules for social harmony as well as the harmony in the monastic life.

He abounded the domestic life for the sake of suffering humanity. He practised Right-faith, Right-knowledge and Right-conduct and at the end realized the perfect Enlightenment. After that he wandered through different parts of the country and preached the *Dhamma*. Hearing his sermons, many persons became his followers. Then he formed *Samgha* or the monastic order. He had very big assemblies of monks. He framed monastic rules to regulate their life in the *Samgha*.

The monastic life in India was not based or advocated merely on the sad note of disgust of life but it was a real life which struggled hard for the knowledge of reality; for the realisation that this life is not the only life that it is only a passing phase and that there shall be a stage where there can be the end of *Samsāra* - a

* 1/7019, Shivaji Park, Shahadra, Delhi-32

series of births - total negation of attachment.

The aim of monastic life was not merely an escape but full of efforts to achieve the highest goal of human life which was looked upon as a rare opportunity to have in the endless cycle of births and rebirths. Irrespective of the fact that the nature of 'realisation' or 'Liberation' varied with the main types of Indian monachism. It was, therefore, to attain to the state of self realisation which automatically freed one from the every-dynamic cycle of birth and rebirth that people took to the rigorous life of monkhood. Moreover, a *saṁnyasta* life was the proper mode to approach the ideal as it consisted of poverty, non attachment and indifference to body so essential for the knowledge of the self. Hence Jaina monastic insisted on monkhood or nunhood as the only way leading towards liberation.

The standard of monastic behaviour was, perhaps, stricter in as much as Jaina monks practised severe mortificatory practices like fasting and putting up with all sorts of bodily trouble by complete indifference to it. The practice of *Ahimsā* was taken to the farthest limit possible, and the Jaina monk seemed to care more for other living being than for himself.

The vow of non-possession in its severest form emerged in the vindication of nudity so peculiar to the Digambara Jainas.

Even though Jaina monachism shared the same attitude, as the Buddhist and the Brahmanical monachism did, regarding women, yet it gave them full scope in matters of spiritual aspirations by enlisting them into the order right from the beginning.

In spite of this principle of least dependence on society leaders of Jaina Church were wise enough to keep constant touch with the laity which, it should be noted, is even now giving full allegiance to the church, and has played an important role in the existence not only of Jainism but also of Jaina monachism in the best possible orthodox traditions.

The Jaina canons define and illustrate the rigorous course of discipline. These rules and regulation which pertain to various aspects of monastic life such as conversion of persons, acquisition of food and requisites by them, church units and officers, study, transgressions and punishments and the like are developed to an incomparable height. Mahāvīra also prescribed certain rules of conduct for ascetics. These rules are classified under such general heads as begging, walking, modes of speech, entry into others possessions, postures, place of study and attending to the calls of nature. Here begging includes begging food and drink, a bowl, clothes, and residence or a couch. Under these subheads are to be found the rules governing the modes of eating, drinking, and lying down? Walking includes traveling, crossing, swimming and other forms of movement. The postures are those that are involved in religious exercises.

The most striking traits of these rules are that they presuppose the three fold principle of inoffensiveness, self-restraint and penance or in the words of the rival religious sects self mortification.

Admission of candidates to the order is one of the most important features of monachism. The monks were persons of high moral standard and self control. To maintain this standard, certain qualifications were expected to those wishing to join the order, even though church life was proclaimed to be open to all irrespective of caste or status.¹ The following males were disqualified to enter the order.²

(1) a child under eight years (*bāle*) 2) an old person (*vuḍḍhe*), (3) an eunuch (*paṇḍaka*), (4) a sick person (*vāhie*), (5) a person devoid of limbs (*juṅgiā*), (6) a timid person (*kive*), (7) a person of dull intellect (*jaḍḍa*), (8) a robber (*teṇa*), (9) an enemy of the king (*rāyāvagārī*), (10) a mad person (*ummatta*), (11) a blind person (*adamsaṇe*), (12) a slave (*dāse*), (13) a wicked person (*duṭṭhe*), (14)

a stupid person (*mūḍha*) (15) one who is in debt (*aṇatta*), (16) an attendant (*obaddhe*), (17) a servant (*bhayaē*), (18) a kidnapped person (*sehaṇipphediya*).

Similarly twenty types of female were not allowed to enter the Order viz. a pregnant woman (*gabbhiṇi*) and a woman having a small child (*bālavacchā*) including above mentioned 18 types of conditions for male.

The person entering the order was introduced as a '*seha*, *antevāsika*, *sāmaṇera* or *khuddaga* and the women *khuddiya* (disciple) and was kept on probation either for six months, or for a week³. During this period his sole duty was to master the tenets of monk life, the proper execution of which made him fit for confirmation.⁴ The confirmation made him a regular member of the order and from this stage as a *seha* or *antevāsī* he aspired to the higher in the church hierarchy. After the confirmation, the monk is called *bhikkhu*, *niggaṇṭha*, *sāhu* or *Thera* and the nun, *bhikkhūṇī*, *niggaṇṭhi*, *Sahuni*, *ajja* or *therī* and is treated as regular member of the order.

Monastic Jurisprudence

The monks were generally said to commit transgressions due to the following reasons. They did so either out of pride (*dappa*), or carelessness (*pamāda*), or inattention (*anābhoge*), or under influence of bodily pangs, under calamities, or in a place which had a mixed group of heretics and others, or due to unexpected circumstances, or out of fear or hatred.

Under all these circumstances, and normally as well the monks who were of good conduct, good family, good caste and self-control reported or confessed their faults before the guru (*ālocanā*). The person before whom this *ālocanā* was to be done was one who himself was of a good conduct, and was able to expose the transgressor and make him confess his fault.

Ten rules of Monastic Department (*Sāmācārī*)

The *Mulācāra* explains *sāmācāra* as equanimity (*Samatā*), or right conduct (*sammācāro*), or unvarying and uniform conduct (*samo ācāro*), or the conduct common to the entire monastic order.⁵ *Sāmācārī* stands for the general conduct, behavior or department of the monastic Order. It has no fixed content. The ten rules are as follows.

1. **Ichhākāra:** No compulsion is desirable in monastic department which should be absolutely a voluntary act. In brief, all monastic acts are absolutely voluntary and self impose.
2. **Micchākāra:** In case of lapse, a monk has to retrace and repent for the misconduct.⁶
3. **Tahākāra:** On occasions of the sermons or any other instructions by the preceptor the disciples are to give their complete assent with humility.
4. **Āvassiyī:** 'Leaving the abode for necessary work'.
5. **Nisihiyā:** On the completion of that act, when he returns to his abode, he has to be aware that he has completed the duty.
- 6&7. **Appucchanā and Paḍipucchaṇā:** Similarly a monk has to seek the permission of his superior for an act he has to perform for himself or for others. These formalities are called *apṛcchanā* and *pratipṛcchanā*.
8. **Chandanā :** *Chandaṇā*, is concerned with the invitation of the Superior or the fellow monks to take what has been brought, as a monk should not keep anything secret.
9. **Abbhutthāṇa:** Rendering services to the organization in respect of food, medicine, robes etc. is called *Abhutthāṇa*⁷.
10. **Uvasampayā:** The last type of department is called *uvasampayā* which means approaching a teacher in another *gaṇa* (group) for acquiring special knowledge on a particular subject for a limited period.⁸

The above mentioned rules of department throw welcome light on the spirit of the monastic organization which was an absolutely voluntary society devoted to self-service and service of the fellow monks.

The Jaina monks must have been readily recognizable as they practised either complete nudity or clad in white garments from great antiquity. Besides garments other requisites which they always kept with them for the sake of self control or out of a sense of shame⁹ were pot (*pāya*), blanket (*kambala*), duster (*pāyaponchaṇa*)¹⁰ and mouth covering cloth (*muhpatti*)¹¹. This was in brief outward appearance of the Śvetāmbara monks. The Digambara ascetics, as they lived naked (*jahājāya*)¹² and took food in the palms of their hands (*pānipāya*)¹³ actually had no outfit except a feather broom (*picchiya*)¹⁴ corresponding to the Śvetāmbara *pāyapunchaṇa* and a *kuṇḍi* (waterpot).¹⁵

A nun whether belonging to the Śvetāmbara or Digambara sect always used white robes. The Jaina monks, as a matter of fact, lead a very strenuous life throughout the whole day and night and try their best to stick to their daily duties even in course of tour. It seems that the chief items of his daily routine were *paḍilehaṇa* (scanning of requisites), study (*sajjhāya*), *āloyaṇā* (confession of faults), *goyarī* (begging food), *kāussagga* and *paḍikkamaṇa* (condemnation of transgressions). As the practice of ideal conduct depends on acceptable food, proper dress and suitable abode, the Jaina Order seems to be careful enough or regards the same.

Moral Discipline and self control

The fundamental vows which formed the very basis of monk life were a group of five vows (*mahavvayā*) which were as follows.

(a) **Savvāo pāṇivāyāo veramaṇaṃ:** Abstaining from injury to living beings, either small or great, mobile or immobile. For the perfect practice of this vow, the monk had to take precautions

pertaining to his movement, mental thoughts, speech, deposition of his requisites, and inspection of his food and drink.

(b) **Savvāo musāvayāo veramaṇaṃ**: To renunciation of all types of lies either in anger, fear or in jest (*hāsā*). This was properly followed by speaking, after deliberation, knowing and giving up anger, gre, fear and mirth.

(c) **Savvāo adinnādānāo veramaṇaṃ** : Giving up stealing of any article at any place.

(d) **Savvāo mehunāo veramaṇaṃ** : Abstaining from sexual intercourse either with divine beings, human beings or with lower animals.

(e) **Savvāo pariggaho veramaṇaṃ** : The renunciation of all possessions and attachment, little or much small or great pertaining to either living beings or to lifeless things.

(f) **Savvāo rāibhoyaṇāo veramaṇaṃ** : Abstaining from taking a night meal. All these vows were to be practised in the thrice three-fold way, in as much as, the monk was not to transgress these himself, or cause somebody else to do so, consent to others doing so, either mentally, vocally or bodily:

Penance and Fasting

Penance mainly consisted of fasts of various magnitudes. One of these types was called external (*bāhya*) penance, and the other internal (*ābhyntara*). These were further divided, each into six subdivisions, which were as follows.

(a) **External penance**: (i) Fasting, (ii) eating less than the normal, (iii) begging food (in a peculiar way), (iv) giving up tasty food, (v) mortifying the body and (vi) control over the senses.

(b) **Internal penance**: It was as follows: (i) Punishment for transgressions, (ii) modesty (iii) service to others. (iv) Study (v) meditation and (vi) indifference or non-attachment to the body.

Besides restricting oneself to the articles begged (*dravya*), or to the place (*kṣetra*), or time (*kāla*) or the mental state (*bhāva*),

various fasts of different magnitude were practised either in the form of a line (*śeḍhitava*) or a square (*Paryāyata*).

References:

1. Citta and Sambhuta : Cāṇḍalas, *Uttarādhyayana* Chapt. 13
2. *Ṭhāṇāṅga*, text p. 164
3. *Ṭhāṇāṅga*, p. 129 b
4. *Ibid*, p. 240a
5. *Mūlācāra*, 5.123
6. *Āvaśyaka-niryukti*, V 689-690; M
7. *Uttarādhyayana*, xxvi. 7.
8. *Mūlācāra* IV, V. 128.
9. *Daśavaikālika*, 6.20; *Ṭhāṇāṅga* 171, 138.
10. *Āyāro* (S.B.E. Vol. XXII) 1.2.5 (P. 23), 1.6.2.1
11. *Uttarādhyayana*, 26, 23, *Bhagavatī*, 111, p. 139a, p. 55
12. *Mūlācāra*, 9.15; 10.17-22
13. *Mūlācāra*, 9.45-54.
14. *Bhagavatī-arāḍhanā* 6.38.
15. *Ibid*.



श्रमण, वर्ष ६०-६१, अंक ४-१
अक्टू.-दिस. ०९-जन.-मार्च १०

विद्यापीठ के प्रांगण में

Special lectures on Jainism

JSJS-PV Global Center for Indological Research, under Lala



Harjas Rai Jaina Lecture Series organised a special lecture by Prof. Cromwell Crawford, Professor Emeritus, Department of Religion, University of Hawaii, USA on "Jainism : A religion whose time has come" at

Parshwanath Vidyapeeth on 17th November, 2009.

Programme started with Manglacharan recited by Pujya Sadhvi Soumya Gunashriji. Dr. S. P. Pandey, Ast. Director, welcomed the guests and dignitaries and introduced the house the aim and objectives of ISSJS-PV Global Centre along with 'Introduction' of the learned speakers. Prof. K.D. Tripathi, Professor Emeritus, Faculty of SVDV, BHU presided over the session.

The learned speakers those who addressed the meeting were Prof. Crawford, Dr. Sulekh Jain, Chairman. Governing Council, ISSJS. USA and Dr. Vineya Jain.

Prof. Cromwell Crawford, in his lecture told that Jainism has a lot of potential to become a Global religion. In abroad people has great regards for Jainism and its followers. In the present world scenario where violence, unrest, inequality and religious intolerance is prevailing everywhere the preachings of Lord Mahāvīra has become very relevant. Referring to various instances from the life of Mahavira, Prof. Crawford stressed on the propagation of Jaina tenets across the boundaries of India. Dr. Sulekh Jain, who has been

१२६ : श्रमण, वर्ष ६०-६१, अंक ४, १ / अक्टू.-दिसम्बर ०९-जन.-मार्च-१०

a source of constant support and inspiration for Parshwanath Vidyapeeth, shared many new informations, and events emerging fastly in the world. He talked about the challenges of 21st Century and its remedy through Jainism.

The important part of the lectures was that cross discussions were held between speakers and house on different aspects of Jainism. The vote of thanks was given by Dr. Sudha Jain.

पुस्तक-विमोचन

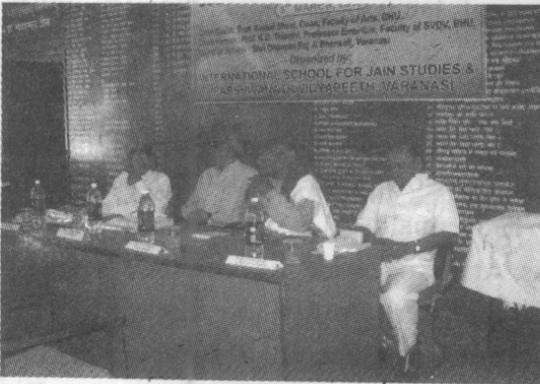
पार्श्वनाथ विद्यापीठ व आई. एस.जे.एस. (इन्टरनेशनल सेन्टर फार जैन स्टडीज)के संयुक्त तत्त्वाधान में आयोजित एक दिवसीय सेमिनार में दिनांक १७ नवम्बर २००९ को जैन धर्म व साहित्य के दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकों- डा० महेन्द्र प्रताप सिंह, पी.जी. कालेज, मड़िहान द्वारा रचित 'बृहत्कल्पसूत्र का सांस्कृतिक अध्ययन' तथा डा० राम कुमार गुप्त, प्रवक्ता, दर्शन विभाग, तिलकधारी पी.जी कालेज, जौनपुर द्वारा लिखित 'वेदान्त परिभाषा पर न्याय दर्शन के प्रभाव की समीक्षात्मक परीक्षा' का विमोचन किया गया। इस अवसर पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मुख्य पदाधिकारियों में श्री इन्द्रभूति बरड़, आई.एस.जे. एस. के निदेशक डॉ. शुगनचन्द्र जैन, डॉ. सुलेख जैन, प्रो. क्रॉमवेल क्राफोर्ड, उनकी पत्नी माटिल्डा क्रॉफोर्ड, प्रो. कमलेश दत्त त्रिपाठी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सहनिदेशक डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय समेत अन्य विशिष्ट विद्वान उपस्थित थे।

बृहत्कल्पसूत्र, आचार्य संघदास गणि द्वारा रचित साधु-साध्वियों के आचार से सम्बन्धित ग्रन्थ है। अभी तक इसका हिन्दी अनुवाद उपलब्ध न होने के कारण पाठक इसके विशेष लाभ से वंचित थे किन्तु जैन विश्व भारती द्वारा इसके अनुवाद से तथा डॉ. महेन्द्र प्रताप सिंह द्वारा इसके सांस्कृतिक अध्ययन से इस विषय पर और भी प्रकाश पड़ेगा व पाठकगण इसका समुचित लाभ उठा पायेंगे।

दूसरी विमोचित पुस्तक 'वेदान्त परिभाषा पर न्याय दर्शन के प्रभाव की समीक्षात्मक परीक्षा' में वेदान्त और न्याय दर्शन का तुलनात्मक, गवेषणात्मक, एवं समन्वयात्मक परिशीलन लेखक ने किया है। इस ग्रन्थ से न्याय दर्शन एवं अद्वैत वेदान्त के सम्बन्धों में एक नवीन चिंतन दृष्टि प्रकट होगी एवं दोनों दर्शनों के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर नवीन प्रकाश पड़ेगा।

National Seminar on 'Social Consciousness and Jainism' successfully organized

March 5, 2010, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi. One day National Seminar on 'Social consciousness and Jainism' was organized as a joint venture of International School for Jaina Studies and Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi on 5th March 2010 at Parshwanath Vidyapeeth. This seminar was one of nine seminars organized under a series of Seminars by International School for Jaina Studies (ISJS) on 'Social consciousness and Jainism.' These



Seminars were organized in nine major cities/Jaina Centers of India- Atul, Banglore, Chennai, Delhi, Indore, Jaipur, Hastinapur, Mumbai, Vijayvada and Varanasi on different dates in between Febru-

ary to March, 2010. At Varanasi it was organized on 5th March 2010 at Parshwanath Vidyapeeth.

Prof. Kamalsheel, Dean Faculty of Arts, Banaras Hindu University was the Chief Guest and Prof. K.D.. Tripathi, Professor Emeritus, Faculty of SVDV, BHU Chaired the Inaugural session. Famous Industrialist Shri Dhanpat Raj Ji Bhansali was present as a Guest of Honour. Shri Indrabhooti Barar, Secretary, Parshwanath Vidyapeeth welcomed the guests and Dr. Shugan C. Jain, Director, ISJS presented the Keynote address. Total 10 papers were presented in this one day seminar.

Prominent among the learned scholars who presented their papers on different aspects of Social Consciousness and Jainism were- Prof. Sitaram Dubey, Head, Dept. of Ancient Indian History, Archaeology and Culture, BHU; Prof. S. P. Pandey, Dept. of

१२८ : अरण, वरुष ६०-६१, अंक ४, १ / अक्टू.-दिसम्बर ०९-जन.-मार्च-१०

Philosophy & Religion, BHU; Dr. R. K. Jha, Reader, Dept. of Philosophy & Religion, BHU; Prof. Phool Chand Jain 'Premi', Dept. of Jaina Darshan, Sampurnanand Sanskrit University; Dr. Ashok Kumar Jaina, Reader, Dept of Jaina Darshan, Faculty of SVDV, BHU, Dr. Shriprakash Pandey, Asst. Director, Parshwanath Vidyapeeth, Dr. Sharda Singh, Research Officer, Parshwanath Vidyapeeth, Shri Om Prakash Singh, Librarian, Parshwanath and Dr. Dharmendra Kumar Singh 'Gautam. Scholars enjoyed the question answer session of the Seminar in which Dr. A. P. Singh, Shri O. P. Singh and many others actively participated. The speakers highlighted the contribution of Jainism to Indian Society under different topics. Prof. K.D. Tripathi, who presided over the function, presented a detailed account of social contribution of Jainism to the Indian Culture as a whole. Prof. Kamalsheel, Chief Guest, threw ample light on the works done by Jaina Acharyas in Building social harmony and equality. Dr. Shriprakash Pandey presented the vote of thanks. At this occasion the prominent scholars who participated in the seminar were Prof. V. K. Singh, Dept. of English, Prof. S. L. Jain, Former Dean, Faculty of Arts, BHU, Prof. Harihar Singh, Dept. of AIHC, BHU, Dr. Archana Sharma, Dr. Sujata Gautam, Lecturer, Dept of AIHC, BHU, Dr. Atul Tripathi, Reader, Dept. of AIHC, BHU and Dr. M. P. Singh.

It is worth to mention here that ISJS is also planning to hold an International Seminar in Canada in August 2010.

DSIR Team visited Parshwanath Vidyapeeth (20-21 March, 2010)

A Team of Department of Scientific & Industrial Research Organizations (DSIR), Ministry of Human Resources, Govt. of India, New Delhi visited Parshwanath Vidyapeeth on 20th March 2010 headed by Shri A. V. Chanulu, Officer on Special Duty, DSIR, New Delhi. It is worth to mention here that Parshwanath Vidyapeeth is recognized by Scientific & Industrial Research Organization, New Delhi for Research. The team discussed different issues related to

Research with Prof. S. L. Jain, Director, Shri R.S. Gupta, Jt. Secretary and Dr. S. P. Pandey, Asst. Director, Parshwanath Vidyapeeth. Prof. S. L. Jain gave a detailed account of the activities of Parshwanath Vidyapeeth and introduced the Professors present in the meeting. The team also had a fruitful interaction with the Professors of Banaras Hindu University and Sampurnanand Sanskrit University. Mr. A. V. Chanulu shared his views and future plans of DSIR with learned Professors present in the meeting and invited the suggestions from the Professors. The prominent Professors who attended the meeting were- Prof. K.D. Tripathi, Professor Emeritus, Faculty of SVDV, BHU, Prof. R. C. Panda, Dean, Faculty of SVDV, BHU, Prof. M.N.P. Tiwari, Dept. of History of Art, BHU, Prof. Harihar Singh, Dept. of AIHC, BHU and Prof. Phool Chand Jain, Dept. of Jaina Darshan, Sampurnanand Sanskrit University.

Dr. Sharda Singh, Research Officer and Shri O. P. Singh, Librarian successfully managed the logistics for the meeting.

प्रो०(डॉ०) सुदर्शन लाल जैन पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक नियुक्त

प्रो०(डॉ०) सुदर्शन लाल जैन एम.ए., पी-एच.डी.(संस्कृत), आचार्य (जैन-दर्शन, प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य), दिगम्बर जैन न्यायतीर्थ ने ११ मार्च



२०१० को पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक का पद-भार ग्रहण कर लिया है। आप संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, पालि, अंग्रेजी आदि भाषाओं के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। जैन जगत् में आपकी विशेष प्रतिष्ठा है। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में अध्यक्ष पद को दो बार गौरवान्वित कर चुके हैं। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला संकाय के प्रमुख (डीन) भी रह चुके हैं। संकाय प्रमुख के रूप में कार्य करते हुए आप उर्दू, जर्मन, मराठी, म्यूजियोलॉजी (भारत कला भवन) आदि के भी अध्यक्ष पद पर आसीन रहे हैं। इसके अतिरिक्त भी आप अनेक भारतीय स्तर की संस्थाओं के सम्मानित पदों पर प्रतिष्ठित रह चुके हैं तथा वर्तमान में भी हैं।

ज्ञातव्य है कि सन् २००६ में विश्वविद्यालय से सेवा-निवृत्ति के पश्चात् बहुभाषाविज्ञ डॉ० जैन आज भी संस्कृत-विद्या धर्म-विज्ञान संकाय के जैन, बौद्ध दर्शन विभाग में अतिथि अध्यापक के रूप में अपनी सेवाएँ दे रहे हैं।

चालीस से अधिक शोध-छात्र आपके कुशल निर्देशन में शोध-कार्य कर चुके हैं। 'उत्तराध्ययनसूत्र एक परिशीलन' आपका शोध-ग्रन्थ है जो पार्श्वनाथ विद्यापीठ से ही प्रकाशित है तथा जिसका गुजराती भाषा में अनुवाद भी पार्श्वनाथ विद्यापीठ से प्रकाशित हो चुका है। संस्कृत-प्रवेशिका, प्राकृत-दीपिका, देव शास्त्र व गुरु, तर्क-संग्रह (हिन्दी अनुवाद, संस्कृतच्छाया, व्याख्या), कर्पूरमञ्जरी (हिन्दी अनुवाद, संस्कृतच्छाया, व्याख्या), मुनिसुव्रत काव्य (हिन्दी अनुवाद) आदि आपके द्वारा लिखित ग्रन्थों का साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान है। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा आपकी रचनाओं को सम्मानित भी किया गया है। समाज द्वारा आपका कई बार सम्मान किया जा चुका है। आप विदेश यात्रा भी कर चुके हैं तथा अमेरिका के सेन फ्रांसिस्को में स्थित मीलपिटस शहर में आप दो बार अपना व्याख्यान भी दे चुके हैं। आपके द्वारा लिखित करीब सत्तर से अधिक लेख देश-विदेश के प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

जैन विद्या के अध्ययन-अध्यापन में संलग्न प्रो०(डॉ०) जैन के बारे में पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आपके कुशल निर्देशन में पार्श्वनाथ विद्यापीठ नई ऊँचाइयों को छूएगा।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में साध्वी आवास तथा कन्या छात्रावास का शिलान्यास

पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिसर में महावीर जयन्ती, दिनांक २८.३.२०१० रविवार को आठ कक्षों तथा एक साधना हाल से युक्त एक साध्वी आवास का शिलान्यास



वाराणसी नगर के प्रमुख उद्योगपति व समाजसेवी श्री धनपतराज जी भंसाली के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। पार्श्वनाथ विद्यापीठ में अध्ययन हेतु पधारीं खरतरगच्छ शिरोमणि, साध्वीवर्या, परम पूज्या डॉ० सौम्यगुणा श्रीजी म.सा.ने भूमि-पूजन के कार्यक्रम को विधिपूर्वक सम्पन्न करवाया। इस अवसर पर श्री धनपतराज जी भंसाली और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीला भंसाली के अतिरिक्त पार्श्वनाथ विद्यापीठ के आर्थिक सलाहकार एवं सदस्य-प्रबन्ध-समिति,

श्री सतीशचन्द्र जैन एवं श्री ललित चन्द्र जी लोढा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० सुदर्शन लाल जैन, सह-निदेशक डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, डा० शारदा सिंह, शोध अधिकारी, श्री ओमप्रकाश सिंह, पुस्तकालयाध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्यापीठ के अतिरिक्त अनेक गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

ध्यातव्य है कि पार्श्वनाथ विद्यापीठ जैन साधु-साध्वियों एवं मुमुक्षुओं के अध्ययन के लिये सर्वसुविधा सम्पन्न है और अब तक अनेक साधु-साध्वियों/मुमुक्षुओं ने यहां से जैन धर्म -दर्शन पर विशेष अध्ययन किया है। साध्वी आवास का यह निर्माण साधु-साध्वियों के अध्ययन के लिये उपलब्ध सुविधाओं की कड़ी में एक और कदम है। दानवीर आदरणीय श्री धनपतराज जी भंसाली को पार्श्वनाथ विद्यापीठ की तरफ से हार्दिक साधुवाद एवं आभार।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में शोधार्थियों के पंजीकरण हेतु सूचना

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में शोध करने वाले छात्र-छात्राओं को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच. डी.की उपाधि प्रदान की जाती है। विगत वर्षों में ६० से अधिक विद्यार्थी यहाँ से पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध इस शोध संस्थान को जैन धर्म से सम्बन्धित विषयों पर शोध कराने की मान्यता प्राप्त है। अतः जैन आगम ग्रन्थों में प्रतिपादित धर्म दर्शन, इतिहास, पुरातत्त्व, राजनीति शास्त्र, समाजशास्त्र, भूगोल, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, काव्य आदि से सम्बन्धित विषयों पर स्वतन्त्र रूप से अथवा तुलनात्मक और वैज्ञानिक शोध किया जा सकता है। प्रवेश के इच्छुक विद्यार्थियों को मई २०१० में अपना पंजीकरण करवाना आवश्यक है जिससे विश्वविद्यालय द्वारा निर्गत फार्म को यथा-समय भर कर जमा किया जा सके। पार्श्वनाथ विद्यापीठ में शोध हेतु वही नियम लागू होंगे जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शोधार्थियों के लिये लागू होंगे। फार्म में सभी प्रमाण-पत्रों (X, XII, B.A., M.A.) की सत्यापित फोटो-कॉपी, स्वयं की पासपोर्ट साइज फोटो, निर्धारित शुल्क आदि लगाना सभी शोधार्थियों के लिये आवश्यक होंगे।

शोध हेतु दो सुपरवाइजर नियुक्त होंगे, एक पार्श्वनाथ विद्यापीठ से दूसरे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से। पार्श्वनाथ विद्यापीठ शोध करने वाले छात्रों को आवास, भोजन, पुस्तकालय की सुविधा के अतिरिक्त यथा-संभव कुछ शोध-छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था करेगा जिससे उच्चस्तरीय शोध-प्रबन्ध लिखा जा सके।

निवेदक

डॉ. सुदर्शन लाल जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

लेखकों तथा पाठकों से निवेदन

१. श्रमण में प्रकाशन हेतु लेख की स्वच्छ हस्तलिखित या टंकित प्रति ही भेजें। उसकी विषय-वस्तु शोधात्मक और तर्कसंगत होने के साथ सरलतापूर्वक ग्राह्य हो।
२. अप्रकाशित व पूर्णतया मौलिक लेख को ही प्रकाशन में वरीयता दी जायेगी। प्रकाशन के बारे में कोई भी निर्णय प्रकाशन समिति के द्वारा ही लिया जायेगा।
३. लेख में उल्लिखित मूल श्लोकों, उद्धरणों तथा सभी सन्दर्भों को मूल ग्रन्थ से मिलाकर शुद्ध करके ही भेजें। लेख के सभी सन्दर्भ एक साथ से अंतिम पृष्ठ पर दें।
४. लेख यदि कम्प्यूटर-टंकित हो तो उसे सी.डी. के रूप में लेख के साथ अथवा उसे पार्श्वनाथ विद्यापीठ के ई-मेल पर भी भेज सकते हैं। उसकी एक प्रति अपने पास अवश्य रखें क्योंकि अप्रकाशित लेख लौटाये नहीं जायेंगे।
५. यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक भी सहमत हो।
६. लेख में आवश्यकतानुसार भाषागत आंशिक परिवर्तन संभव है।
७. लेख के साथ अपने पत्राचार का पूर्ण विवरण अर्थात् पूरा पता, फोन एवं मोबाइल नं., ई-मेल (यदि हो तो) दें तथा 'श्रमण' में प्रकाशन का निर्णय होने तक उसे अन्यत्र प्रकाशनार्थ न भेजें।
८. लेख का एक प्रूफ संशोधन हेतु लेखक के पास भेजा जा सकता है।
९. ध्यातव्य है कि लेख में कोई विवादास्पद तथ्य न हो जिससे परस्पर सौहार्द की हानि हो अर्थात् तुलनात्मक दृष्टि से समन्वय की भावना हो।
१०. 'श्रमण' में दो अतिरिक्त पृष्ठ सामान्य जनोपयोगी (सैद्धान्तिक जानकारी से सम्बन्धित) रहेंगे।
११. श्रमण के प्रत्येक अंक में एक अतिरिक्त पृष्ठ में प्रेरणादायक किसी साधु-साध्वी, महापुरुष अथवा विद्वान् के जीवन-वृत्त से सम्बन्धित जानकारी देने का प्रयत्न किया जायेगा। अतः ऐसे किसी विद्वान् के जीवन-वृत्त के प्रकाशन हेतु उनकी पासपोर्ट साइज फोटो भी साथ में संलग्न करें।
१२. श्रमण के प्रत्येक अंक में एक अतिरिक्त पृष्ठ 'जिज्ञासा व समाधान' का रहेगा। इसके लिए पाठक अपने प्रश्न अथवा जिज्ञासाएं हमें भेज सकते हैं।

१३४ : श्रमण, वर्ष ६०-६१, अंक ४, १ / अक्टू.-दिसम्बर ०९-जन.-मार्च-१०

१३. प्रत्येक माह के किसी एक रविवार को पार्श्वनाथ विद्यापीठ में सेमिनार/व्याख्यान का आयोजन किया जायेगा जिसका विवरण श्रमण में विद्यापीठ की गतिविधियों के अन्तर्गत प्रकाशित किया जायेगा।
१४. 'श्रमण' की आजीवन सदस्यता शुल्क १०००/- रुपये निर्धारित की गयी है। चेक अथवा नकद रूप से आप यह राशि भेज कर श्रमण के आजीवन सदस्य बन सकते हैं।
१५. आर्थिक सहयोग करने वालों के नाम श्रमण में प्रकाशित किये जायेंगे।
१६. 'श्रमण' को और अच्छा बनाने के लिये आप अपने सुझावों से हमें अवगत करावें ताकि पत्रिका को और समुन्नत और उत्कृष्ट बनाया जा सके।
१७. श्रमण में समीक्षार्थ पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की दो प्रतियाँ भेजें।

शतावधानी रतनचन्द्र पुस्तकालय

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में शतावधानी रतनचन्द्र पुस्तकालय की स्थापना दि. १.१.१९३८ में विद्यार्थियों के अध्ययन के लिये की गयी। उस समय कुल १०५ पुस्तकों तथा कुछ गवेषणात्मक लेखों एवं पत्र-पत्रिकाओं के साथ इसका शुभारम्भ हुआ था। आज यह पुस्तकालय उत्तर भारत में जैन विद्या से सम्बन्धित अध्ययन सामग्री के संग्रह के रूप में अपना प्रथम स्थान रखता है। यहाँ पर जैन-विद्या के आगम-ग्रन्थों (मूलसूत्र, चूर्णि, टीका, भाष्य आदि) तथा धर्म-दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त साहित्य, कोश, नाटक, व्याकरण, इतिहास, भूगोल ज्योतिष, आयुर्वेद, पुरातत्त्व आदि विषयों की सामग्री भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। पुस्तकालय में वैदिक साहित्य, पाश्चात्य दर्शन आदि बौद्ध साहित्य, जैनतर साहित्य के मूल एवं सभी प्रकार के सन्दर्भ ग्रंथ उपलब्ध हैं। पुस्तकालय में दुर्लभ ग्रंथों के अतिरिक्त हस्तलिखित ग्रंथों (पाण्डुलिपियों) का भी अच्छा संग्रह है। इस पुस्तकालय का उपयोग भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों के अध्यापक तथा छात्र अपने शोध एवं अध्ययन हेतु करते हैं। इसके अतिरिक्त विदेशी विद्यार्थी भी जैन-विद्या के अध्ययन एवं शोध हेतु यहाँ पर प्रायः आते रहते हैं।

जैन जगत्

वैशाली में डॉ. 'हीरालाल जैन स्मृति व्याख्यानमाला' सम्पन्न

प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, बासोकुण्ड मुजफ्फरपुर में २७ नवम्बर, २००९ को पूर्वाह्न संस्थान के संस्थापक निदेशक डॉ. हीरालाल



जैन की स्मृति में व्याख्यानमाला का आयोजन किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव ने की तथा मुख्य अतिथि थे विधायक श्री अशोक कुमार सिंह थे। मुख्य व्याख्यानकर्ताओं में

प्राकृत भाषा और साहित्य के विद्वान तथा ख्यातिप्राप्त वास्तुविद् डॉ. जयकुमार उपाध्ये, उपाचार्य प्राकृत भाषा विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ प्रमुख थे। व्याख्यानमाला में डा० वशिष्ठ नारायण सिन्हा, पूर्व आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग, काशी विद्यापीठ एवं डॉ० देव नारायण शर्मा, पूर्व निदेशक, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली जैसे वरिष्ठ आचार्यों ने भी अपना उद्बोधन दिया।

इस अवसर पर प्राकृत और जैन शास्त्र विषय में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करने वाले संस्थान के छात्र श्री राजेन्द्र पाटिल को डॉ. भागचन्द्र जैन स्वर्णपदक एवं प्रमाण-पत्र से सम्मानित किया गया। इस अवसर पर डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा द्वारा लिखित पुस्तक 'आस्पेक्ट्स आफ नॉन-वॉयलेन्स' एवं वैशाली इन्स्टीट्यूट रिसर्च बुलेटिन न. २१ का लोकार्पण माननीय विधायक एवं अन्य अतिथियों द्वारा किया गया।

अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में डॉ. सूरिदेव सूरि ने कहा कि इस व्याख्यानमाला का आयोजन करके संस्थान के निदेशक एवं पदाधिकारियों ने न केवल डॉ. जैन का स्मरण किया है बल्कि प्राकृत भाषा सहित सभी प्राच्य-भाषाओं का सम्मान किया है।

करुणा अन्तर्राष्ट्रीय का क्षेत्रीय सम्मेलन एवं पारितोषिक वितरण समारोह वर्ष-२००९-१०

अहिंसा और करुणा के क्षेत्र में पूरे देश में करुणा क्लबों को प्रोत्साहित करने वाले करुणा अन्तर्राष्ट्रीय के इस वर्ष के क्षेत्रीय सम्मेलनों का पहला सम्मेलन



तमिलनाडु के श्रीविद्या मंदिर के एसोसिएशन में दिनांक २८.११.२००९ दिन शनिवार को सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर श्री दौलत जैन (उपाध्यक्ष भारतीय जीव जन्तु कल्याण बोर्ड) मुख्य अतिथि के रूप में विद्यमान थे।

कार्यक्रम का उद्घाटन आर.पी. सारथी के कर-कमलों द्वारा किया गया तथा मुख्य अभिभाषण श्री रवि कुमार जो विश्व भारती आर.एस.एस. के संयोजक भी हैं, ने दिया। इस वृहत् सम्मेलन में अनेक विद्यालयों के ५०० प्राचार्य, शिक्षक, पशु-क्षेत्र में कार्य करने वाले कार्यकर्ता व अन्य सदस्य भी उपस्थित थे। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य मानवीय जीवन मूल्यों- यथा करुणा, प्राणिमात्र के प्रति प्रेम, पशु-कल्याण, पशु क्रूरता निवारण तथा शाकाहार को प्रोत्साहन देना था। श्री नाहर के द्वारा 'करुणा के द्वारा पर्सनैल्टी डेवलपमेन्ट' विषय पर प्रेरणात्मक व्याख्यान विशेष उल्लेखनीय रहा।

अधिवेशन में पारितोषिक/अवार्ड वितरण समारोह के अन्तर्गत सोलह विद्यालयों को ५०,००० रुपयों के उत्कृष्ट करुणा क्लब पुरस्कार एवं २० विद्यार्थियों को दयावान पुरस्कार दिए गये। कार्यक्रम के अन्त में वरिष्ठ संरक्षकों को सम्मानसहित धन्यवाद दिया गया।

गुप्तिसागरजी महाराज का जन्म महोत्सव सम्पन्न

परम मूर्धन्य सन्त शिरोमणि आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज के अनुगामी शिष्य, राष्ट्रसंत, शाकाहार विचार के कट्टर पोषक, योगी सम्राट, उपाध्याय मुनिश्री १०८ गुप्ति सागर जी महाराज का ५३वाँ जन्म अमृत महोत्सव का त्रिदिवसीय महाआयोजन ४ से ६ दिसम्बर २००९ को जैनमंदिर, मिशन रोड, सोनीपत के प्रांगण में सिद्धान्तरत्न ब्र. सुमन शास्त्री एवं ब्र. रंजना शास्त्री के कुशल मार्गदर्शन

में सम्पन्न हुआ। यह जन्म महोत्सव कार्यक्रम समाज के लिये लौकिक और आध्यात्मिक उन्नतिकारक हो इस मंगल कामना के साथ पार्श्वनाथ विद्यापीठ का मुनिश्री को शत् शत् नमन।

श्रीमती बबीता जैन को पी-एच.डी. उपाधि

राजस्थान विश्वविद्यालय के जैन अनुशीलन केन्द्र ने श्रीमती बबीता जैन को



उनके शोध-प्रबंध "सराक आचार : श्रावकाचार-इतिहास व पुरातत्त्व के परिप्रेक्ष्य में" के लिये उन्हें पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान की। इन्होंने अपना शोध-कार्य जैन साहित्य के मनीषी आचार्य डॉ. पी.सी. जैन, निदेशक, जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के निर्देशन में पूरा किया।

श्रीमती बबीता जैन ने जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर से एम.ए. (दर्शनशास्त्र) तथा राजस्थान विश्वविद्यालय से एम. फिल. (जैन अध्ययन) में किया है। अनेक प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में आपके अनेक शोध-पत्र प्रकाशित हुए हैं। डॉ. जैन को पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से हार्दिक बधाई।

तरुणसागरजी ने रचा इतिहास

पूज्य श्री क्रान्तिकारी राष्ट्रसंत मुनिश्री तरुणसागरजी ने २० दिसम्बर ०९ में



रायपुर में छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री के निवास पर जाकर न केवल वहाँ के अतिविशिष्ट जनों को सम्बोधित किया अपितु वहीं पर अपनी आहारचर्या सम्पन्न की। मुख्यमंत्री डॉ. रमन सिंह

जी ने अपनी पत्नी वीणा सिंह, पुत्र अभिषेक कुमार के साथ भक्तिभाव से पड़गाहन किया और नवधाभक्ति पूर्वक पूज्यश्री को आहार दिया।

ध्यातव्य है कि मुनिश्री केवल शाकाहारी व्यक्ति के हाथों ही आहार व जल ग्रहण करते हैं। डॉ. रमन सिंह यद्यपि जाति से राजपूत हैं लेकिन वे पूरी तरह शाकाहारी हैं और उन्होंने अपने इस संकल्प को पुनः मुनिश्री के समक्ष दुहराया।

भोजन ग्रहण करने के पश्चात् मुनिश्री ने नगर के विशिष्ट लोगों को संबोधित किया जिसमें मंत्रिमंडल के कई मंत्री, आई.ए.एस., आई.पी.एस. व अन्य विशिष्ट जन मौजूद थे।

यह इतिहास की पहली घटना है जब सी.एम. हाउस पर कोई जैन सन्त गया हो और जिसे मुख्यमंत्री ने सपरिवार आहार दिया हो। इससे पूर्व भी मुनिश्री अपने बैंगलोर प्रवास के दौरान वहाँ के राजभवन में इतिहास रच चुके हैं।

तेरहवें महावीर पारितोषिक की घोषणा

श्री एन. सुगालचन्द जैन ने २२ दिसम्बर के प्रेस सम्मेलन में १३वें महावीर पारितोषिक विजेताओं की घोषणा की। यह पारितोषिक श्री महावीर न्यास (सन् १९९४ ई.)के द्वारा प्रतिवर्ष अहिंसा और शाकाहार, शिक्षा व चिकित्सा तथा समुदाय व समाज सेवा के क्षेत्र में चुने गये व्यक्तियों/संस्थाओं को दिया जाता है। प्रत्येक पारितोषिक के तीन घटक हैं- पाँच लाख रुपये नकद, प्रशस्ति-पत्र, और स्मृति-चिह्न। अब तक ३२ पारितोषिक दिये जा चुके हैं।

सुप्रीम कोर्ट के भूतपूर्व प्रधान न्यायमूर्ति श्री वेंकटचेल्लैया के नेतृत्व में एक पारितोषिक एवार्डिंग समिति बनी है। इस समिति के सदस्य भूतपूर्व केन्द्रीय मंत्री श्री राम विलास मिर्धाजी, श्री दीपचंदजी गाडीं बार एट-ला, पूज्य आचार्य श्री चन्दना जी महाराज, पद्मभूषण श्री डी.आर.मेहता जी (भूतपूर्व अध्यक्ष, से.बी.), मंगलूर भारतीय विद्याभवन केन्द्र के अध्यक्ष श्री बी.एम.हेगडे जी और एम.एस. स्वामीनाथन रिसर्च फाउण्डेशन के अध्यक्ष श्री एम.एस. स्वामीनाथन तथा भूतपूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त श्री. टी.एस. कृष्णमूर्ति हैं। इस समिति ने तीन निम्नलिखित पारितोषिकों के नामों की घोषणा की-

पारितोषिक-(अ) अहिंसा और शाकाहार के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य के लिए श्री मुहम्मद अब्नार कुरेशी, थाने (महाराष्ट्र) के वासी। कसाई समाज में जन्मे श्री कुरैशी महाराष्ट्र के निवासी हैं। ये जानवरों के अधिकार व भलाई के क्षेत्र के सक्रिय कार्यकर्ता हैं।

पारितोषिक-(आ) शिक्षा और चिकित्सा के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य के लिए ट्राइबल हेल्थ इनिशियेटिव, धर्मपुरी (तमिलनाडु)को दिया गया है। ट्राइबल हेल्थ इनिशियेटिव का आरंभ एक झोपड़ी में डॉ. रेगी व श्रीमती डॉ. ललिता रेगी के हाथों हुआ था। २४ गाँवों में उपलब्ध आज यह टी.बी. और कुण्ठ रोगियों का प्रसिद्ध अस्पताल बन गया है।

पारितोषिक-(इ) समुदाय व समाज सेवा के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य के लिए अ. श्री कर्णा नगर विकास समिति, कोटा (राजस्थान) आ. स्वामी विवेकानन्द, ग्रामीण एकीकृत स्वास्थ्य केन्द्र, पावगढ़ (कर्नाटक) को दिया गया है। स्वामी विवेकानन्द इंस्ट्रिग्रेटेड रूरल हेल्थ सेन्टर श्री एम.सी. भंडारी और श्रीमती प्रसन्ना भंडारी द्वारा संचालित विकास समिति है। गत ४० सालों से वे समाज-सेवा करते आ रहे हैं। अनाथ बच्चों, वयोवृद्धों के निवास स्थान व शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम, महिलाओं की जागृति के लिये कार्यक्रम तथा प्राकृतिक आपदाओं से पीड़ित जनता की सहायता ही इस संस्था का उद्देश्य है।

भगवान् महावीर न्यास इन व्यक्तियों और संस्थाओं की वन्दना करता है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ इन व्यक्तियों और उनकी संस्थाओं को उनके उत्कृष्ट कार्य के लिये बधाई देता है।

आचार्य तुलसी प्राकृत पुरस्कार समारोह

राजस्थान के डूंगरगढ़ जिले में दिनांक २५ दिसम्बर ०९ को प्रज्ञा समवसरण में आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के पावन सान्निध्य में प्राकृत साहित्य के संरक्षण एवं संवर्धन के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिये विख्यात जैन विद्यामनीषी प्रो. दामोदर शास्त्री को आचार्य तुलसी प्राकृत पुरस्कार २००९ प्रदान कर सम्मानित किया गया। प्रतिवर्ष एक लाख रुपये का यह पुरस्कार जो जैन विश्व भारती लाडनूँ द्वारा संचालित तथा बी.डी. फाउण्डेशन, कोलकाता द्वारा प्रायोजित है, प्राकृत भाषा के विद्वान् को दिया जाता है। प्रो. शास्त्री वर्तमान में जैन विश्व भारती, लाडनूँ में जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म व दर्शन विभाग में प्रोफेसर पद पर कार्यरत हैं। इस अवसर पर आचार्य महाप्रज्ञ तथा युवाचार्य महाश्रमण ने प्रो. शास्त्री के वैदुष्य की चर्चा करते हुए उनके योगदान को अनुकरणीय बताया।

श्री दिन्नू बाबा जैन गादिया, टोमरी का वार्षिकोत्सव सम्पन्न

दिनांक १७ जनवरी २०१० को श्री दिन्नू बाबा जैन गादिया (टोमरी), 'आत्म स्मारक' गांव कनेच (साहनेवाल), जी.टी. रोड, लुधियाना का भव्य वार्षिकोत्सव सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर 'यश-बसन्त' अतिथि भवन जो समाजरत्न श्री हीरालाल जैन-संजीव जैन परिवार ने बनवाया है, का भव्य उद्घाटन भी सम्पन्न हुआ। समारोह के मुख्य अतिथि थे मास्टर मोहनलालजी, परिवहन मंत्री, पंजाब तथा श्री सः हीरा सिंह जी गाबडिया, पर्यटन एवं जेल मंत्री, पंजाब। समारोह की अध्यक्षता

१४० : श्रमण, वर्ष ६०-६१, अंक ४, १ / अक्टू.-दिसम्बर ०९-जन.-मार्च-१०

श्रीमती स्वर्णकान्ता जैन, धर्मपत्नी स्व. श्री रमेश कुमार जैन (स्यालकोट वाले) ने की। स्वागताध्यक्ष थे श्री सुरेन्द्र मोहन जैन (मुकेरिया वाले) तथा ध्वजारोहण किया श्री सुरेश कुमार राजन कुमार जैन (स्यालकोट वाले)ने। इस अवसर पर अनेक गणमान्य अतिथि मौजूद थे। वक्ताओं ने श्री दिन्तूबाबा के चामत्कारिक प्रभावों एवं उनकी उत्कृष्ट तपस्या का गुणगान किया तथा इस समग्र योजना के सूत्रधार समाजरत्न श्री हीरालाल जैन के सद्प्रयासों की सराहना की।

तेरहवां चौदहवां आचार्य हेमचन्द्र सूरि सम्मान पुरस्कार

श्री जसवन्त धर्मार्थ ट्रस्ट, नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित वर्ष २००७ एवं २००८ के लिये तेरहवें एवं चौदहवें आचार्य हेमचन्द्र सूरि पुरस्कारों की घोषणा २१ जनवरी, २०१० को इंडिया इन्टरनेशनल सेन्टर, नई दिल्ली में आयोजित एक सादे समारोह में कर दी गयी। वर्ष २००७ के लिये प्रोफेसर एन.एम. कंसारा तथा वर्ष २००८ के लिये प्रोफेसर तपस्वी शम्भूचन्द्र नन्दी को आचार्य हेमचन्द्र सूरि पुरस्कार देने की घोषणा की गयी। माननीय न्यायधीश श्री बी.सी. पटेल, ने पुरस्कार प्राप्त कर्ताओं का स्वागत किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता अक्षरधाम के मुख्य पी.आर.ओ. श्री जनक दवे ने किया। इस अवसर पर अनेक गणमान्य व्यक्ति मौजूद थे।

ध्यातव्य है कि इसके पूर्व प्रो० एच.सी. भायाणी (१९९५), प्रो. एम. ए. ढाकी (१९९६), प्रो. वी. एम. कुलकर्णी (१९९७), प्रो० ए. एम. घाटगे (१९९८), प्रो. एस. आर. बनर्जी (१९९९), पं लक्ष्मण भाई भोजक (२०००), प्रो. जी. वी. टगारे (२००१), प्रो. नगीन. जे. शाह (२००२), प्रो. विलियम बी. बोली (२००३), मुनि श्री जम्बू विजयजी (२००४), प्रो. एम. ए. मेहेन्दले (२००५) तथा प्रो. रञ्जन सूरिदेव (२००६) को इस प्रतिष्ठित पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है।

आवश्यकता है

महावीर जैन आराधना केन्द्र

जैन धर्म, भारतीय संस्कृति, वैदिक धर्म, प्राच्य विद्या पर लगभग दो लाख हस्तप्रत एवं डेढ़ लाख मुद्रित पुस्तकप्रत से समृद्ध महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा, दुनियां का अद्भुत एवं अद्यतन जैन ज्ञान भंडार है। साधु-साध्वियों एवं संशोधकों को आगम, न्याय, दर्शन, योग साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, भारतीय प्राचीन सभ्यता-संस्कृति से सम्बन्धित साहित्य उपलब्ध करवाने एवं इन

साहित्यों को आने वाली पीढ़ी के लिये संरक्षण एवं संवर्द्धन करने में यह एक अग्रणी संस्था है।

इस ज्ञान मंदिर का धर्म प्रचार का कार्य और भी सुविधाजनक हो जायेगा यदि कुछ योग्य व अनुभवी व्यक्तियों की यहाँ नियुक्ति हो जाये। मंदिर में हस्तप्रतसूची कार्य के लिये पंडित, ग्रन्थालय के विविध कार्य के लिये सहायक, म्यूजियम क्यूरेटर की आवश्यकता है।

१. हस्तप्रतसूची कार्य के लिये व्यक्ति को १२वीं उत्तीर्ण, गुजराती, हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के साथ जैन धर्म व दर्शन की जानकारी व कम्प्यूटर की जानकारी अपेक्षित है।
२. ग्रन्थालय के विविध कार्य के लिये सहायक-प्राकृत, संस्कृत, गुजराती, अंग्रेजी, हिन्दी भाषा का ज्ञान, जैन धर्म व दर्शन की सामान्य जानकारी के साथ धर्म व साहित्य की जानकारी अपेक्षित है।
३. म्यूजियम क्यूरेटर- म्यूजियोलॉजी की डिग्री अथवा डिप्लोमा, भारतीय कला, इतिहास, संस्कृति एवं कम्प्यूटर ज्ञान अपेक्षित है।

इच्छुक उम्मीदवार इस पते पर सम्पर्क कर सकते हैं-

कनुभाई शाह, नियामक, आचार्यश्री कैलाशसागरसूरि ज्ञानमंदिर, कोबा,
गाँधीनगर-३८२००७, फोन-(०७९) २३२७६२५२

शोक-समाचार

जैन विद्वत् जगत् का सूर्य अस्त हो गया

जैनागम रत्नाकर, जैनविद्या दिवाकर, ज्ञानदर्शन और चारित्ररूपी त्रिवेणी की जीवन्त प्रतिमूर्ति भक्तहृदय परम पूज्य श्री जम्बूविजय जी. म. सा. का अपने शिष्य सहित एक दुर्घटना में कालधर्म को प्राप्त होना जैन जगत् और विशेष रूप से जैन विद्वत् जगत् पर अनभ्र वज्रपात है।

१२ नवम्बर २००९ को प्रातःकाल नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ में चातुर्मास पूर्ण कर जैसलमेर की ओर विहार करते समय बालोतरा एवं बाड़मेर के बीच एक सड़क दुर्घटना में आप काल धर्म को पाप्त हो गये। आपके साथ विहाररत एक युवा शिष्य मुनि श्री नमस्कारविजय जी भी घटनास्थल पर ही हताहत हो गये। दो अन्य वयोवृद्ध मुनियों में धर्मघोष विजयजी को भी गम्भीर चोटें आयीं।

जैन विद्या के प्राचीन ग्रन्थ रत्नों को आलोकित करने वाली वह कलम

१४२ : श्रमण, वर्ष ६०-६१, अंक ४, १ / अक्टू.-दिसम्बर ०९-जन.-मार्च-१०

आज शांत हो गई है। श्री जम्बूविजय का व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों श्लाघनीय थे। तिब्बती, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश एवं अंग्रेजी सहित १८ भाषाओं के मूर्धन्य विद्वान् मुनि श्रीजम्बू विजयजी, मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी महाराज के साथ रहकर जैन आगमिक साहित्य के शोधकार्य में संलग्न रहते थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया जिसमें महावीर विद्यालय, मुम्बई से प्रकाशित जैन आगम का आलोचनात्मक संस्करण, शारदा बेन चिमनभाई एज्यूकेशनल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद से प्रकाशित हेमचन्द्राचार्य ज्ञान भण्डार की पाण्डुलिपियों के संग्रह का वृहत् सूचीपत्र, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली से प्रकाशित जैसलमेर ज्ञान भण्डार की पाण्डुलिपियों के संग्रह का वृहत् सूचीपत्र, हेमचन्द्राचार्य प्रणीत 'योगशास्त्र का आलोचनात्मक' संस्करण के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें भी शामिल हैं। जैन विद्या के क्षेत्र में उनकी जो प्रामाणिकतापूर्ण गहन पैठ थी, उसकी क्षतिपूर्ति तो अब असंभव सी लगती है। काल के इस क्रूर मजाक को विवश और मूक भाव से देखने सुनने के अलावा हमारे पास और कोई विकल्प नहीं है। उनकी आत्मा चिरशान्ति को प्राप्त हो और वह जहाँ कहीं भी हो जैन विद्या के उपासकों को आलोक और प्रेरणा प्रदान करती रहे। श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ तीर्थ एवं विश्व कल्याण आत्म जैन फाउण्डेशन तीर्थ मंडल तथा समस्त पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार आपको भावांजलि अर्पित करता है। -सागरमल जैन

पूज्या प्रवर्तिनी श्री निपुणाश्री म.सा. का स्वर्गगमन

खतरगच्छ की साध्वीवर्या पूज्या प्रवर्तिनी श्री निपुणाश्रीजी म.सा. कालधर्म को प्राप्त हो गईं। पूज्य साध्वी जी के दर्शनों का सौभाग्य मुझे दो-तीन बार ही प्राप्त हुआ। वे अपनी साधना के प्रति जागरूक, सहज और सरलमना साध्वी थीं। उनका आभा मंडल प्रभावशाली था। जो भी उनके सम्पर्क में आता था, वह उनसे प्रभावित हो जाता था। वे सहज और सरलमना होने के साथ-साथ स्वाध्यायशील भी थीं। सदैव ज्ञानचर्चा में निमग्न रहती थीं।

उनका देवलोक गमन खतरगच्छ जैनसंघ की एक अपूरणीय क्षति है। मैं और प्राच्य विद्यापीठ परिसर में विराजित साध्वी प्रियस्नेहाञ्जनाश्रीजी एवं साध्वी प्रियमेधाञ्जनाश्रीजी एवं समस्त प्राच्य विद्यापीठ परिवार उनको भावांजलि अर्पित करता है। उनकी आत्मा को चिरशान्ति प्राप्त हो यही पार्श्वनाथ विद्यापीठ की भी शुभ भावना है।

-सागरमल जैन

श्री मोहनलालजी खारीवाल नहीं रहे

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के उपाध्यक्ष एवं परम आत्मीय श्री मोहनलालजी खारीवाल का एक संक्षिप्त बीमारी के पश्चात् दिनांक २६ जनवरी २०१० को ८३ वर्ष की



वय में निधन हो गया। श्री खारीवाल साहब का जन्म २७ दिसम्बर १९२७ को राजस्थान के पाली जिले के एक छोटे से गांव देवली कला में हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा देवली कला में ही हुई। बाद में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आपने बी.काम. किया। उसके पश्चात् आपने 'एच.सी. खींचा एण्ड कम्पनी' में चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट के रूप में अपनी सेवाएं प्राम्भ कीं और अन्त तक आप उसी से सम्बद्ध रहे। आप भारत की

अनेक शैक्षणिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक संस्थाओं से अत्यन्त सक्रिय रूप से जुड़े रहे। श्री हिन्दी शिक्षण संघ एवं श्री जैन शिक्षा समिति के आप संस्थापक सदस्य रहे। आप श्री भगवान् महावीर शिक्षण न्यास, बैंगलोर से घनिष्ठ रूप से जुड़े थे जो अनेक जैन विद्यालय और संस्थाएं चलाती हैं। आप लम्बे समय तक भारतीय विद्याभवन के बैंगलोर केन्द्र के कार्यकारिणी के सदस्य तथा बाद में उपाध्यक्ष रहे। भारतीय साहित्य में आपकी गहन रुचि थी। शिक्षण संस्थाओं के साथ आप बैंगलोर के अनेक सामाजिक संगठनों यथा- श्री जैन दया संघ, श्री शान्तिलाल वनमाली सेठ फाउन्डेशन आदि से जुड़े रहे जो जीवदया तथा चैरिटी का कार्य करती हैं।

आप पार्श्वनाथ विद्यापीठ से लगभग ४० वर्षों से जुड़े रहे। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की प्रबन्ध-समिति के आप सक्रिय सदस्य रहे तथा संस्था को आपका सहयोग सदा मिलता रहा। विद्यापीठ के प्रकाशनों में आपकी गहरी रुचि थी तथा विद्यापीठ के विकास के लिये तन, मन, धन से आप सदा तत्पर रहते थे।

आपके निधन का समाचार सुनते ही पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार शोक सन्तप्त हो गया। आपके निधन से विद्यापीठ की अपूरणीय क्षति हुई है। इस अवसर विद्यापीठ श्री खारीवाल जी के प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

साहित्य सत्कार

पुस्तक समीक्षा

१. सुकुमालसामिचरिउ : लेखक, प्रो. डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्रकाशक, अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जैन विद्या संस्थान, राजस्थान, २००५।

११८९ से १२०८ के बीच में रचित प्रस्तुत पुस्तक कवि विबुध श्रीधर द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में से एक है। जैनकथा साहित्य में परिपक्षों पर विजय प्राप्त करने के सन्दर्भ में यह कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। जैन आगम साहित्य में यह कथा सर्वप्रथम प्राकृत साहित्य में उपलब्ध होती है। उसके बाद यह प्रकीर्णक, भगवती आराधना, आराधनासार आदि में वर्णित होने के पश्चात् पाँचवी, छठी शताब्दी तक एक साधक मुनि के रूप में लोगों के मानस में प्रतिष्ठित हो चुकी थी और उसके बाद भी अनेक कालों व आधुनिक भाषाओं में इस ग्रन्थ पर टीकाएँ लिखीं गयीं जो इसकी विशेषता को स्वतः ही उजागर करता है। इस सन्दर्भ में स्पष्ट करना आवश्यक है कि मुनि सुकुमालस्वामी के जीवन पर स्वतन्त्ररूप से लिखी गयी यह पहली रचना है। यद्यपि सुकुमाल की कथा इससे पूर्व भी अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध है— जैसे पायाधम्मकहा, आवश्यकचूर्णि, वृहत्कल्पभाष्य आदि।

प्रस्तुत ग्रन्थ क, ख, ग, घ नामक चार भागों में विभाजित है। 'क' के अन्तर्गत प्रस्तावना है जिसमें प्रथमतः तो पाण्डुलियों का परिचय, ग्रन्थ के रचयिता का परिचय, रचनाकाल, सुकुमालसामिचरिउ का कथानक, तथा प्राचीन और अर्वाचीन कथाएँ, ग्रन्थ की भाषा, अलंकार तथा कथा में वर्णित समाज व संस्कृति का परिचय दिया गया है। 'ख' के अन्तर्गत मूल अपभ्रंश ग्रन्थ विषयानुक्रम 'ग' में ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद 'घ' में शब्दानुक्रमणिका दिया गया है।

ग्रन्थ के सम्पादन में प्रो. प्रेमसुमन जैन के साहित्यिक दक्षता का सहज अनुमान लग जाता है। इतना ही नहीं प्रो. प्रेमसुमन द्वारा अनुवादित और सम्पादित यह ग्रन्थ अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर द्वारा स्वयंभू पुरस्कार २००३ से भी सम्मानित किया जा चुका है।

जैसा कि इसके नाम से ही पता चलता है कि यह ग्रन्थ मुनि सुकुमालस्वामी जो अत्यन्त सुकुमार थे के जीवन पर काव्यमयी गाथा है। भारतीय साहित्य स्त्री पात्र के सुकुमारता के सम्बन्ध में अनेक काव्यों और पद्यों की रचना से परिपूर्ण है किन्तु 'सुकुमालसामिचरिउ' पुरुष के सुकुमारता के सम्बन्ध में एकदम नया व अनूठा है। जैन कथा साहित्य में परीषह-जय के प्रसंग में मुनि सुकुमारस्वामी

की कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस कथा को लिखने का मात्र इतना अभिप्राय है कि परीषह-जय से तथा ध्यान की एकाग्रता से केवल ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

जैनाचार्यों ने सुकुमालचरित में सुकुमाल की सुकुमारता का जो प्रसंग उपस्थित किये हैं वे नितान्त मौलिक हैं और उसे अपने कथा में उजागर करने का उद्देश्य मात्र इतना है कि अनेक शारीरिक अक्षमताओं के बावजूद साधक अपने तपस्या के पथ से डिगता नहीं है। दूसरे यह भी बताने का प्रयत्न किया गया है कि बहुत प्रयत्नों के बावजूद भी भवितव्य नहीं रुकता और न ही तन की सुकुमारता व पूर्व जन्मों के कर्म आत्म विकास के लिये बद्ध जीव को किसी प्रकार रोक सकते हैं।

इस प्रकार का ग्रन्थ जो भाषा की दुरूहता के कारण पाठक वर्ग के समक्ष अभी तक उपस्थित नहीं हो सका था, प्रो. डॉ. प्रेमसुमन जैन ने उसके अनुवाद और सम्पादन द्वारा उसे अत्यन्त ही आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है। ऐसे अन्य ग्रन्थों पर भी स्वतन्त्र रूप से अध्ययन की आवश्यकता है। प्रो. जैन निश्चित रूप से बधाई के पात्र हैं। ग्रन्थ की बाहरी सज्जा आकर्षक व लिखावट सुन्दर है।

-डॉ. शारदा सिंह, रिसर्च आफिसर (पार्श्वनाथ विद्यापीठ)

२. आचार्य पूज्यपाददेव विरचित-समाधितन्त्रम् (आर्हत्भाष्यम्) संस्कृत टीका का पद्यानुवाद-आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज। संस्कृत टीका-आर्हत्भाष्य का हिन्दी अनुवाद मुनि श्री प्रणम्यसागर जी महाराज। संस्करण-द्वितीय, अगस्त २००९, मूल्य ६५/- प्रकाशन- धर्मोदय साहित्य प्रकाशन, सागर, म.प्र.।

'समाधितन्त्रम्' (मूलग्रन्थ) की रचना छठी शताब्दी के आचार्य पूज्यपाद ने आचार्य कुन्दकुन्द से प्रभावित होकर की। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'समाधिशतक' है। इसमें कुल १०५ पद्य हैं। आचार्य पूज्यपाद में कवि, वैयाकरण और दार्शनिक इन तीनों व्यक्तित्वों का एकत्र समवाय पाया जाता है। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का विस्तार पूर्वक विवेचन है।

उपरोक्त पुस्तक में वही आध्यात्मिक ऊर्जा दिखायी देती है जो आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में दिखायी देती है। आचार्य पूज्यपाद ने बहुत कम शब्दों में व कम कारिकाओं में अध्यात्म का मर्म अपने ग्रन्थों में भरकर गागर में सागर की उक्ति को चरितार्थ किया है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के शिष्यों में अनोखे व्यक्तित्व वाले संस्कृत, अंग्रेजी, प्राकृत भाषा में निष्णात, अनेक ग्रन्थों की संस्कृत टीका लिखने

१४६ : श्रमण, वर्ष ६०-६१, अंक ४, १ / अक्टू.-दिसम्बर ०९-जन.-मार्च-१०

वाले मुनि श्री प्रणम्य सागरजी जैन विद्या के मूर्धन्य विद्वान संत हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में १०५ पद्यों का आर्हत भाष्य व हिन्दी में तार्किक ढंग से उनका अनुवाद किया गया है। इस ग्रंथ में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने के लिए उसके तीन दशाओं का इस ग्रंथ में सविस्तार वर्णन किया गया है। आत्मा की तीन दशा है—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा।

एक ही आत्मा बहिरात्मपने को छोड़कर अन्तरात्मा होकर परमात्मा बन सकता है, यह सिद्धान्त या अवधारणा सबसे पहले आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलती है। आचार्य पूज्यपाद ने उसी आर्हत परम्परा को गतिशील बनाया। इसी गतिशीलता को आगे बढ़ाने वाले मुनि श्री प्रणम्य सागरजी महाराज हैं। मुनिश्री ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करके एक सराहनीय कार्य किया है। आशा है यह पुस्तक जैन धर्म एवं दर्शन के शोधार्थियों एवं विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

-डॉ. धर्मेन्द्र सिंह गौतम

साभार - प्राप्ति

१. आत्मनिंदा द्वात्रिंशिका : लेखक, गुजरेश्वर कुमारपाल, प्रकाशक, श्री नवकार आराधना भवन, हालोल जैन संघ, ४३, अलकापुरी सोसायटी, गोधरा रोड, हालोल, २००८।
२. हंसता अक्षर: संपादक, पूज्यपाद आचार्य राजरत्नसूरीश्वर जी म.सा., प्रकाशक, धर्मकृपा ट्रस्ट, दर्भावती, डभोई तीर्थ।
३. पाटलिपुत्रनी ऐतिहासिक प्रदक्षिणा: लेखक-श्रीमद् पूर्णचन्द्रसूरीश्वर जी महाराज, प्रकाशक, पंचप्रस्थान पुण्यस्मृति प्रकाशन, गोपीपुरा, सूरत २००७।
४. जैन धर्मशिक्षावली भाग-१,२, लेखक- आचार्य सम्राट श्री आत्माराम जी महाराज, प्रकाशक, भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट, कुप्पकलां (पंजाब)।
५. याकिनी महात्तरा धर्मपुत्र श्री हरिभद्रसूरिजी: लेखक, श्रीमद् विजयपूर्ण चन्द्रसूरीश्वरजी महाराज, प्रकाशक, पंचप्रस्थान पुण्यस्मृति प्रकाशन, २००८।
६. हयातिना हस्ताक्षर: प्रकाशक, श्री धर्मकृपा ट्रस्ट, दर्भावती, डभोई तीर्थ २००९।
७. सुकुमालसाभिचरिड: लेखक, प्रो. डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्रकाशक- अपभ्रंश साहित्य अकादमी जैन विद्या संस्थान, राजस्थान, २००५।
८. श्रायसपथप्रणेता: मुनि श्री प्रणम्य सागर जी महाराज, प्रकाशक, धर्मोदय साहित्य प्रकाशन, सागर (म.प्र.), २००८।
९. ध्यानशतकम्: भाग-१,२, लेखक- जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, प्रकाशक, सन्मार्ग प्रकाशनम्, अहमदाबाद, २००९।
१०. मीठाफल मानव भवना : लेखक, प.पू. भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराज, प्रकाशक, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धौलका।
११. सन्मतितर्क प्रकरणम् : भाग-१,२, लेखक- श्री सिद्धसेन दिवाकर, प्रकाशक, सन्मार्गप्रकाशनम्, अहमदाबाद, २००९।
१२. आगम श्री आतुरप्रत्याख्यान प्रकीर्णकम्, लेखक, पू.आ. वीरभद्रगणि महाराज, प्रकाशक, सन्मार्गप्रकाशनम्, अहमदाबाद, २०१०।
१३. सासरा सुख वासरा, संपादक, डॉ. कविन शाह, प्रकाशक, रीटाबेन के. शाह, १०३, भवन ज्योति अपार्टमेन्ट, सी. बिल्डिंग, नरीमन प्वाइन्ट, मुम्बई, २००८।

श्रीमद्घनेश्वरसूरिविरचितं
सुरसुंदरीचरिअं
(अष्टम परिच्छेद)

पू. गणिवर्य श्री विश्रुतयशविजयजीकृत
संस्कृत छाया, गुजराती और हिन्दी
अनुवाद सहित
परामर्शदात्री
प०पू० साध्वीवर्या रत्नचूलाजी म०सा०

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
२०१०

Sursundaricarium

(8th Pariccheda)

An introduction

In 7th Pariccheda we have seen that after receiving good wishes from Chitravega, Chitragati started for Suranandana city with Priyaṅgumañjarī. In the way he met to a Deva who disappeared after giving him a powerful Jewel (Maṇi) to safe him from Nabhovāhana Vidyādhara.

8th Chapter follows:

When Chitragati, with her beloved, was going to Surnandana city, in the way Priyaṅgumañjarī felt that Nabhovāhana Vidyādhara was chasing them and she started trembling. Chitravega suggested her not to be afraid of as what is to be happened will happen. Priyaṅgumañjarī told Chitragati that only she is responsible for all these problems we are facing. Chitragati tried her to understand that it is all because of we did not follow the ethical commandments. He continued, I have also disobeyed the rules when I kidnapped you. Therefore, when the time is not favourable, one should not feel hurt. Our enemy is strong than us, we can overcome him only by the result of noble deeds done in previous birth.

Then Nabhovāhana appeared there and threatened Chitragati that as he has kidnapped his wife, no one can save him. Nabhovāhana challenged him for war and being angry released an arrow upon him by his bow to ensure his death. But the arrow returned back to him. The Vidyādhara was surprised to see it. But he again released few more arrows consecrated by Mantras. Those arrows too got returned to the master due to impact of that Maṇi. Then he bound me with snakes. Due to being bound with snakes, feeling severe pain in my body, I fell down to earth from sky. Priyaṅgumañjarī was became very sad seeing all these. Nabhovāhana took her way with him.

Chitravega told Supratiṣṭha that with the impact of the water of Maṇi made available by you, I got released. The Maṇi was so powerful that even the snakes could not harm me. But finally I realised that love and affections are the reasons of this world cycle. One is happy till he is not trapped in love. Every one has to realise the fruition of his

Karmas in this world. Chitravega told that I am not worried about myself but for my beloved whom the Nabhovāhana has by force took away.

In the meanwhile an incident took place. A very handsome Deva descended from the sky. Chitravega, with respect paid his obeisance to him and asked the details about his previous birth and also for what work Deva left him after giving that Maṇi. Then Deva replied :

There is a city named Vijayavati in Āryadeśa of Airāvata region of Jambūdvīpa. There lived a merchant named Dhanabhūti with his wife Sundarī. Sundarī gave birth to a child who was later named as Sudharma. When Sudharma was eight years old, Sundarī gave birth to another child. After some time there arrived a Jaina saint Sudarśana and stayed in the Nadana garden. Dhanabhūti went to hear the sermon of the saint. Hearing the sermon Dhanabhūti felt the futility of the world and got initiated. Before Sudarśana Muni went for Sallekahanā, he made Sudharma Muni Ācārya of the Saṅgha. The second son of Dhanabhūti, Dhanavāhana Kumar became young and got married with Anaṅgavatī, daughter of Haridatta Śreṣṭhi of Supraṭiṣṭha Nagara. Once Sudharma Sūri visited Vijayavati. Dhanbhūti came to Sudharma Sūri with his family to listen the preachings about Jaina religion. Dhanavāhana being engaged in loveplay with her wife did not visit Sādhu Bhagavanta. Sudharma Sūri seeing the indulgence of his younger brother in material world got anxious and called Dhanavāhana to him. Ācārya told him not to waste the precious life being caught by the material pleasure and to learn about essence of Dharma. Dhanavāhana told to Sudharma Sūri that he can not do that as he loves his wife very much. Then the saint briefed him about the wicked nature of the women. He added though your wife is very beautiful but ultimately she is way to hell. Dhanvāhana was impressed with the words of Ācārya and got ready to be initiated on the condition that his wife will also be initiated with him so that he could see her once in a day. Both were initiated. Dhanavāhana under Ācārya and Anaṅgavatī under Mahattarā Chandrayaśā started practising vratas. But still they were bound with the thread of love which was not good for Saṅgha. Sudharma Sūri succeeded Dhanavāhana to understand that affection is the cause of the bondage. Dhanavāhana realised the fact and both being freed from affection started practising true religion.

Once Anaṅgavatī went to sthanḍila bhūmi with her sister Vasumati. She saw a mad person with a lady wearing dirty clothe and body full of warms. Vasumati told Anaṅgavatī that the lady with that mad person seems to be our sister Sulocanā. Sulocanā was married with Subandhu of Mekhalāvati city who later on became chief lady in the harem of King Kanakaratha. Vasumati and Anaṅgavatī after being confirmed that they are none other than Kanakaratha and Sulocanā took both to Sudharma Sūri. Sudharma Sūri explaining the cause of their's madness told that any women has poured upon special type of powder capable of diverting once mind, when both were in deep sleep. This is the reason of the their madness. Ācārya provided them suitable medicine and they became healthy. Sulocanā was surprised to see her two sisters. She was told the whole episode as to how she reached to this stage. She also got initiated with Kanakaratha and started practising dharma. Sudharma Sūri left the world with Santhārā and in the next birth born as Śaśiprabha Deva of Candrārjuna Vimāna.

Dhanavāhana also born as Vidyutprabha Sāmanika Deva and Anaṅgavatī as his wife Candralekhā. Sulocanā and Kanakaratha also born in next birth as Sāmanika Deva. The third sister Vasumati born as Candraprabhā Devī in Candrārjuna Vimāna. Vidyutprabha after experiencing divine pleasure of Devaloka was born as Pavanagati Vidyādhara in Ratnasanchaya city situated in the south range of mountain Vaitāḍhya. O! Chitravega you have born in the form of the soul of Vidyutprabha in this birth. Kanakamālā is the daughter of Chitramālā, wife of Amitagati Vidyādhara. Their's love of previous birth culminated in this birth as Chitravega and Kanakamālā. The present critical situation which you are facing is the result of your deep love towards your wife even in the life leading as śramaṇa in previous birth. Chandrārjuna, your friend of previous birth has born as Chitragati and Vasumati a Priyaṅgamañjarī. Chitragati arranged your meeting with Kanakamālā but present separation is the fruition of your past karmas. I am your old friend living in Devaloka.

Here ends the 8th chapter.

श्रीमद्धनेश्वरसूरिविरचितं

सुरसुंदरीचरिअं

अट्टमो परिच्छेओ

(चित्रवेगना मनमां थता विचारो)

गाहा :-

अहयंपि तओ दक्खिण-दिसा-मुहो सह पियाए संचलिओ ।
चिंतेमि य किं काही खयरो नहवाहणो इण्हि ? ॥१॥

संस्कृत छाया :-

अहमपि ततो दक्षिणदिशामुखः सह प्रियया सञ्चलितः ।
चिन्तयामि च किं करिष्यति खचरो नभोवाहन इदानीम् ॥१॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यारब्बाद हुं पण दक्षिण दिशा तरफ प्रियानी साथे चाल्यो अने हवे
नभोवाहन विद्याधर शुं करशे? सना विचारमां पड़ी गयो।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद मैं भी दक्षिण दिशा की ओर अपनी प्रिया के साथ चल पड़ा
और अब नभोवाहन विद्याधर क्या करेगा? यह सोचने लगा।

गाहा :-

कय-सुर-रक्खस्स महं बहु-विज्जा-दप्पिओवि सो खयरो ।
न हु सक्किस्सइ काउं अवयारं गरुय-रोसोवि ॥२॥

संस्कृत छाया :-

कृतसुररक्षस्य मम बहुविधा-दर्पितोऽपि स खचरः ।
न खलु शक्यति कर्तुमपकारं गुरुकरोषोऽपि ॥२॥

गुजराती अनुवाद :-

घणी विद्याथी गर्विष्ठ तथा भारे क्रोधायमान स्वो पण विद्याधर देव

करायेली रक्षावाला सवा मारा पर अपकार करवा माटे शक्तिमान नहीं ज थाय।

हिन्दी अनुवाद :-

अनेक प्रकार की विद्याओं से गर्विष्ठ तथा अत्यन्त क्रोधित वह विद्याधर, देव के द्वारा रक्षित मेरे पर अपकार करने के लिए शक्तिमान नहीं होगा।

गाथा :-

अहवा किं मह इमिणा विंचितिएणेह फग्गु-भूएण ।

होही किंचि ममं चिय जं दिट्ठं पुव्व-कम्मोहिं ॥३॥

संस्कृत छाया :-

अथवा किं ममानेन विचिन्तितेनेह फल्गुभूतेन ।

भविष्यति किञ्चिद् मम एव यद् दृष्टं पूर्वकर्मभिः ॥३॥

गुजराती अनुवाद :-

अथवा वृथा आवा विचार करवा वडे मारे अहीं सर्व्हुं मारा पूर्वना कर्मने अनुसारे जे कईं जोवायेलुं हशे ते ज थशे।

हिन्दी अनुवाद :-

अथवा व्यर्थ ही ऐसा विचार करने से क्या लाभ? मेरे पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार जो कुछ देखा गया होगा, वही होगा।

गाथा :-

दिव्व-मणिणो पभावा संनिज्जेणं च तह य देवस्स ।

पुन्नाणुभाव-सरिसं होही भवियव्वया-दिट्ठं ॥४॥

संस्कृत छाया :-

दिव्यमणेः प्रभावात् सान्निध्येन च तथा च देवस्य ।

पुण्यानुभाव-सदृशं भविष्यति भवितव्यता दृष्टम् ॥४॥

गुजराती अनुवाद :-

दिव्यमणिना प्रभावथी तथा देवना सान्निध्यथी पुण्यने अनुसार (तथा) भवितव्यता वडे जोवायेलु हशे, ते थशे।

हिन्दी अनुवाद :-

दिव्यमणि के प्रभाव से तथा देव के सान्निध्य से पुण्य के अनुसार (तथा) भवितव्यता के द्वारा जो कुछ देखा गया होगा, वही होगा।

गाहा :-

एमाइ-बहु-विगप्ये चिंतेमाणो वयामि जा तत्थ ।
ताव य मह दइयाए भणियं भय-वेविर-तणूए ॥५॥

संस्कृत छाया :-

एवमादि-बहुविकल्पाञ्छिन्तयन् ब्रजामि यावत्तत्र ।
तावच्च मम दयितया भणितं भयवेपमान-तन्वा ॥५॥

गुजराती अनुवाद :-

आ प्रमाणे घणा विकल्पो करतो हुं ते रस्ते जतो हतो। तेटलाभां भयथी
धुजता शरीरवाली माटी प्रिया बोली।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार अनेक विकल्प करता हुआ मैं रास्ते पर जा रहा था। इतने में
भय से कांपते हुए शरीरवाली मेरी प्रिया बोली।

गाहा :-

हा नाह! कोवि एसो दीसइ एंतोऽणुमग्गमम्हाणं ।
विज्जाहर-परियरिओ मन्ने नहवाहणो होही ॥६॥

संस्कृत छाया :-

हा नाथ ! कोऽपि एष दृश्यते आयन्ननुमार्गमावयोः ।
विद्याधर-परिकरितो मन्ये नभोवाहनो भविष्यति ॥६॥

गुजराती अनुवाद :-

हे नाथ! आपणी छे नी पाछळ आवतो आ कोई देखाय छे, विद्याधरोथी
परिवरेलो आ नभोवाहन हश्चे सम् मने लागे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

हे नाथ! हम दोनों के पीछे कोई आता हुआ दिखाई दे रहा है। विद्याधरों
से घिरा हुआ यह नभोवाहन होगा, ऐसा लगता है।

गाहा :-

ता पिय! किंपि उवायं चिंतसु पीडा न होई जह तुम्ह ।
अहयंपि विरह-गुरु-दुक्ख-भाइणी जह न होमिति ॥७॥

संस्कृत छाया :-

तस्मात् प्रिय! कमप्युपायं चिन्तय पीडा न भवति यथा तव ।
अहकमपि विरहगुरुदुःखभागिनी यथा न भवामीति ॥७॥

गुजराती अनुवाद :-

तेथी हे प्रियतम! आप कोइ पण उपाय विचारो जेथी आपने कोई पीडा न थाय, अने हुं पण विरहना तीव्र दुःख भोगवनाची न थाऊं!

हिन्दी अनुवाद :-

अतः हे, प्रियतम! आप कोई भी उपाय सोचें, जिससे आपको कोई कष्ट न हो, और मैं भी विरह के तीव्र दुःख भोगनेवाली न बनूँ।

गाहा :-

वलिय-ग्गीवं ततो पुलोइऊणं मएवि संलत्तं ।
एमेव कीस सुंदरि! गरुय-विसायं समुव्वहसि ? ॥८॥

संस्कृत छाया :-

वलितग्रीवं ततो दृष्ट्वा मयाऽपि सल्लंप्तम् ।
एवमेव कस्मात् सुन्दरि! गुरुकविषादं समुद्भवसि ॥८॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यारे वळेली डोकवाला में पण ते तरफ जोईने कहुं, 'हे सुंदरी! हा सभ ज लागे छे परंतु तुं भारे शोक केम करे छे?

हिन्दी अनुवाद :-

तब झुकी हुई गर्दनवाली मैंने भी उसकी ओर देखकर कहा—'हे, सुन्दरी! हाँ ऐसा ही लगता है परन्तु तुम इतना शोक क्यों करती हो?

गाहा :-

जइ ता अतक्किओवि हु एज्ज इमो खयर-विंद-परियरिओ ।
ता होज्ज भयं गरुयं, विज्जाए किं भयं सुयणु! ॥९॥

संस्कृत छाया :-

यदि तावदतर्कितोऽपि खलु एयादयं खचरवृन्द-परिकरितः ।
तर्हि भवेद् भयं गुरुकं विज्जाते किं भयं सुतनो! ॥९॥

गुजराती अनुवाद :-

जो विद्याधरोना समूहथी युक्त ते ओचिंतो आवी जात तो मोटो भय
थात, पण हे सुंदरी! जाण्या पछी शुं भय?

हिन्दी अनुवाद :-

यदि विद्याधरों के समूह से युक्त होकर वह अचानक ही आ जाता तो भारी
भय होता, परन्तु हे, सुन्दरी! यह सब जानते हुए क्या भय?

गाथा :-

देवेण चेव कहियं आगमणमिमस्स तुज्झ पच्चक्खं ।

ता किं एयं दट्ठुं भयाउरा सुयणु! संजाया ? ॥१०॥

संस्कृत छाया :-

देवेनैव कथितमागमनमस्य तव प्रत्यक्षम् ।

तर्हि किं एतं दृष्ट्वा भयातुरा सुतनो! सज्जाता ? ॥१०॥

गुजराती अनुवाद :-

हे सुंदरी! ताका सांभलता ज देव वडे आनुं आगमन कहेवायुं छे, तो
स नभोवाहनने जोइने केम भयभीत थाय छे?

हिन्दी अनुवाद :-

हे, सुन्दरी! तुम्हारे सुनते हुए ही देव के द्वारा इसका आगमन कहा गया
है, तो इस नभोवाहन को देखकर क्यों भयभीत होती हो?

गाथा :-

देवस्स दिव्व-मणिणो पभावओ सुयणु! सुंदरं होही ।

मा मा कुणसु विसायं एतं दट्ठुण एयंति ॥११॥

संस्कृत छाया :-

देवस्य दिव्यमणिः प्रभावतः सुतनो! सुन्दरं भविष्यति ।

मा मा कुरु विषादमायन्तं दृष्ट्वा एतमिति ॥११॥

गुजराती अनुवाद :-

हे प्रिये! देवना दिव्यमणिना प्रभावथी सुंदर ज थरो, नभोवाहनने आवतो
जोई (आ प्रमाणे) विषाद न कर! न कर!

हिन्दी अनुवाद :-

हे, प्रिये! देव के दिव्यमणि के प्रभाव से जो होगा वह सुन्दर ही होगा,

नभोवाहन को आते हुए देखकर (इस प्रकार) चिन्ता मत कर! मत कर!

गाहा :-

अन्नो न कोवि इण्ह काउं सक्कज्जए उवाउत्ति ।
एसो जं सिग्घ-गई आसन्नो वट्टइ इयाणिं ॥१२॥

संस्कृत छाया :-

अन्यो न कोऽपि इदानीं कर्तुं शक्यते उपाय इति ।
एष यत् शीघ्रगतिरासन्नो वर्तते इदानीम् ॥१२॥

गुजराती अनुवाद :-

हालमां बीजो कोईपण उपाय करवो शक्य नथी कारण के ते हमणा
शीघ्रगतिवालो नजीक ज रहेलो छे।

हिन्दी अनुवाद :-

इस समय कोई भी अन्य उपाय करना सम्भव नहीं है, कारण कि वह शीघ्र
गतिवाला नजदीक ही है।

गाहा :-

दूरेवि न सक्कज्जइ उक्कड-विज्जस्स नासिउमिमस्स ।
किं पुण लोयण-विसए पत्तेहिं सुयणु! अम्हेहिं ? ॥१३॥

संस्कृत छाया :-

दूरेऽपि न शक्यते उक्तविद्याद् नष्टमस्मात् ।
किं पुनर्लोचनविषये प्राप्तेः सुतनो! अस्माभिः? ॥१३॥

गुजराती अनुवाद :-

हे सुंदरगंगी! दूर होय तो पण प्रचंड विद्यावाला आ विद्याधरथी आपणे
पलायन थवुं शक्य नथी तो वळी आ तो नजर सम्भक्ष आवी गयो छे तो
आपणा वडे शु थाय?

हिन्दी अनुवाद :-

हे, सुंदरङ्गी! दूर होते हुए भी प्रचंड विद्यावाले इस विद्याधर से भागना हमारे
लिए सम्भव नहीं है। जबकि यह तो नजरों के समक्ष आ जाने के कारण अब क्या
हो सकता है?

गाहा :-

ता होउ पिए! किंचिवि जं दिट्ठं मज्झ पुव्व-कम्महिं ।
नवि किंचि सोइएणं इह लब्भइ जीव-लोगम्मि ॥१४॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद्भवतु प्रिये! किञ्चिदपि यद् दृष्टं मम पूर्वकर्मभिः ।
नाऽपि किञ्चित् शोचितेनेह लभ्यते जीवलोके ॥१४॥

गुजराती अनुवाद :-

तेथी हे प्रिये! मारा पूर्वजा कर्म वडे जे जोवायुं होय ते थाय, आ लोकमां
शोक कटवा वडे कईं पण पळतुं नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

अतः हे प्रिये! मेरे पूर्वजन्म के कर्मों के कारण जो देखा गया है, वह होने
दो, इस लोक में शोक करने से कुछ भी नहीं मिलता है।

(कनकमालानो पश्चात्ताप)

गाहा :-

एवं च मए भणिए मुंचंती थूल-अंसुय-पवाहं ।
गरुय-भय-सोय-तविया सा बाला इय पुणो भणइ ॥१५॥

संस्कृत छाया :-

एवञ्च मयि भणिते मुञ्चन्ती स्थूलाश्रुप्रवाहम् ।
गरुक-भय-शोक-तप्ता सा बालेति पुनर्भणति ॥१५॥

गुजराती अनुवाद :-

आ प्रमाणे में कह्युं त्यारे मोटा अश्रु प्रवाहने वहावती अत्यंत भय तथा
शोकथी तपेली ते प्रिया फटी आ प्रमाणे बोलवा लागी।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार मैंने कहा तो अश्रु प्रवाह को बहाती हुई अत्यन्त भय तथा शोक
से तप्त वह प्रिया पुनः इस प्रकार बोलने लगी।

गाहा :-

हा! नाह! पाण-वल्लह! हय-विहिणा पाव-कारिणी अहयं ।
वंसस्सव फल-समओ तुह विणासाय विहियत्ति ॥१६॥

संस्कृत छाया :-

हा नाथ! प्राणवल्लभ! हत-विधिना पापकारिण्यहकम् ।
वंशस्येव फलसमयस्तव विनाशाय विहितेति ॥१६॥

गुजराती अनुवाद :-

हे नाथ! हे प्राणवल्लभ! दुर्दैवने कारणे पापकारिणी स्त्री हूं ज वांसना
फल आववाना समये तेनी जेम तमाचा विनाश माटे थीई।

हिन्दी अनुवाद :-

हे नाथ! हे प्राणवल्लभ! दुर्भाग्य के कारण मैं पापकारिणी बांस का फल आने
के समय समान तुम्हारे विनाश का कारण सिद्ध हुई।

गाहा :-

जड़ तड़या मण-वल्लह! पाण-च्चाओ मए कओ होंतो ।
ता किं एरिस-गरु-आवईए तं नाह! निवडंतो? ॥१७॥

संस्कृत छाया :-

यदि तदा मनोवल्लभ! प्राणत्यागो मया कृतोऽभविष्यत् ।
तर्हि किं ईदृश-गुरु-आपदि त्वं नाथ! न्यपतिष्यः ? ॥१७॥

गुजराती अनुवाद :-

हे प्राणप्रिय! जो त्यागे माचा वडे प्राणत्याग करायो होत तो हे नाथ!
तमे आवी मोटी आपत्तिमां पडत?

हिन्दी अनुवाद :-

हे प्राणप्रिय! यदि उस समय मेरे द्वारा प्राणत्याग किया गया होता तो हे नाथ!
आप इतनी बड़ी विपत्ति में पड़ते?

गाहा :-

जड़ गब्भाओ पडंता बालत्ते वावि जड़ मया होंता? ।
ता किं मज्झ निमित्ते होज्ज इमा आवया तुज्झ? ॥१८॥

संस्कृत छाया :-

यदि गर्भादपतिष्यं बालत्वे वाऽपि यदि मृताऽभविष्यम् ।
तदा किं मम निमित्ते भवेदियमापदा तव? ॥१८॥

१. ग्रन्थे होंतो वर्तते किन्तु स्त्री-विशेषणत्वात् होंता होंती सम्यक् दृश्यते।

गुजराती अनुवाद :-

जो हूँ गर्भमांथी ज पडी गई होत, अथवा बालपणमां जो मरी गई होत
तो शुं माटा निमित्ते तमने आ आपत्ति आवत?

हिन्दी अनुवाद :-

यदि मैं गर्भ से ही गिर गई होती, अथवा बचपन में ही मर गई होती तो
क्या मेरे कारण आपके ऊपर यह विपत्ति आती?

गाहा :-

एसो मुह-महुरोवि हु परोप्परं अम्ह गरुय-अणुराओ ।

गब्भोव्व वेसरीए जाओ गरु-आवया-हेऊ ॥१९॥

संस्कृत छाया :-

एष मुख-मधुरोऽपि खलु परस्परमावयोर्गुरुकानुरागः ।

गर्भ इव वेसर्या जातो गुर्वापन्धेतुः ॥१९॥

गुजराती अनुवाद :-

प्रारंभमां मधुर सवो परस्पर आपणो गाढ अनुराग अश्वतरीना गर्भनी
जेम भारे दुःख नां कारणरूप बन्यो।

हिन्दी अनुवाद :-

प्रारम्भ में मधुर ऐसा हमारा प्रगाढ़ अनुराग अश्वतरी (खच्चरी) के गर्भ के
समान बहुत बड़े दुःख का कारण बना।

गाहा :-

इण्हिं च तुमं सामिय! कम्मं अवलंबिऊण थक्को सि ।

आवय-निवारणत्थं न चिंतसे किंचिवि उवायं ॥२०॥

संस्कृत छाया :-

इदानीं च त्वं स्वामिन्! कर्मावलम्ब्य स्थितोऽसि ।

आपन्ननिवारणार्थं न चिन्तयसि किञ्चिदप्युपायम् ॥२०॥

गुजराती अनुवाद :-

हे स्वामी! हालमां तमे कर्मन्नु आलंबन लईने रह्या छे तेथी आपत्तिना
निवारण माटे काईपण उपाय चिंतवता नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

हे स्वामी! इस समय आप कर्म का आलंबन लिए हुए हैं, अतः आपति के निवारण हेतु कोई भी उपाय नहीं सोचते हैं।

(चित्रवेगनुं स्वदोषदर्शन अने आत्मसंतोष)

गाथा :-

तत्तो य मए भणियं मा सुंदरि! कुणसु किंचिवि विसायं ।
अवियारिय कय-कज्जं एरिसयं होइ नणु सुयणु! ॥२१॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च मया भणितं मा सुन्दरि! कुरु किञ्चिदपि विषादम् ।
अविचार्य कृतकार्यमीदृशं भवति ननु सुतनो! ॥२१॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यारे मारा वडे कहेवायुं 'हे सुंदरी! जरापण खेद न कर, हे प्रिये!
विचार्या वगट करेल कार्यनुं (फल) आवुं ज थाय छे।'

हिन्दी अनुवाद :-

तब मेरे द्वारा कहा गया—'हे सुंदरी! जरा भी चिन्ता मत कर, हे प्रिये! बिना विचारे हुए किए गए कार्य का (फल) ऐसा ही होता है।'

गाथा :-

अप्य-बलं च पर-बलं अणवेक्खिय आढवेइ जो कज्जं ।
अवमाण-पाण-नासं अवस्स सो पावए पुरिसो ॥२२॥

संस्कृत छाया :-

आत्मबलञ्च परबलमनपेक्ष्य आरभते यः कार्यम् ।
अपमान प्राणनाश-मवश्यं स प्राप्नोति पुरुषः ॥२२॥

गुजराती अनुवाद :-

जो पोतानी शक्ति अने अन्यनी शक्तिने जोया वगट ज कार्यने प्रारंभ करे छे ते पुरुष अवश्य अपमान तथा मरणने प्राप्त करे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

जो अपनी शक्ति और दूसरे की शक्ति देखे बिना ही कार्य का प्रारम्भ करता है, वह पुरुष अपमान और मृत्यु को प्राप्त करता है।

गाहा :-

नीईए वट्टमाणा मणुया न लहंति आवया-निवहं ।
सुयणु! मए का नीई तुमं हरंतेण विहियत्ति? ॥२३॥

संस्कृत छाया :-

नीत्या वर्तमाना मनुजा न लभन्ते आपन्नवहम् ।
सुतनो! मया का नीतिस्त्वां हरता विहितेति? ॥२३॥

गुजराती अनुवाद :-

नीतिनुं पालन करनारा मानवो आपत्तिओने पामता नथी, हे सुतनु!
तारुं अपहरण करतां मारा वडे कई नीति करई?

हिन्दी अनुवाद :-

नीति का पालन करनेवाले मनुष्य के ऊपर कोई आपत्ति नहीं आती है, हे सुतनु! तुम्हारा अपहरण करते हुए मुझसे कौन सी नीति का पालन किया गया।

गाहा :-

विहियं राय-विरुद्धं अणुराय-पर-व्वसेहिं अम्हेहिं ।
ता इण्हि आवयाए सुयणु! विसाओ न कायव्वो ॥२४॥

संस्कृत छाया :-

विहितं राज-विरुद्ध-मनुरागपरवशाभ्यामावाभ्याम् ।
तत इदानीमापदि सुतनो! विषादो न कर्तव्यः ॥२४॥

गुजराती अनुवाद :-

(प्रेम) अनुरागने आधीन आपणा वडे राज्यविरुद्ध आचरणं करायुं
छे. तेथी हे प्रिये! अत्याटे आपत्तिमां विषाद न करवो जोईए।

हिन्दी अनुवाद :-

(प्रेम) अनुराग के अधीन हमारे द्वारा राज्यविरुद्ध आचरण किया गया है,
अतः प्रिये! इस समय आई हुई आपत्ति में विषाद करना नहीं चाहिए।

गाहा :-

किञ्च ।
एवं ठिएवि सुंदरि! अणुकूलो कहवि जइ विही होइ ।
ता आवयावि अम्हं परिणमिही संपयत्तेण ॥२५॥

संस्कृत छाया :-

किञ्च।

एवं स्थितेऽपि सुन्दरि! अनुकूलः कथमपि यदि विधिर्भवति ।

तदा आपदपि आवयोः परिणंस्यति सम्पत्त्वेन ॥२५॥

गुजराती अनुवाद :-

अने वली आम होते छते पण हे सुंदरी! जो कदाचित् भाग्य अनुकूल हशे तो आपणी आपत्ति पण संपत्ति रूपे पट्टिणांम पाव्मशे।

हिन्दी अनुवाद :-

और ऐसा होते हुए भी हे सुन्दरी! यदि भाग्य अनुकूल होगा तो हमारी आपत्ति भी सम्पत्ति के रूप में परिणित हो जाएगी।

गाहा :-

बलिओ हु इमो सचू ताव य सज्जो न पुरिसगारस्स ।

पुव्व-भव-निम्मिण्हिं वारिज्जइ नवरिं पुन्नेहिं ॥२६॥

संस्कृत छाया :-

बलितः खल्वयं शत्रुस्तावच्च साध्यो न पुरुषकारस्य ।

पूर्वभव-निर्मितैर्वार्यते नवरिं पुण्यैः ॥२६॥

गुजराती अनुवाद :-

आ शत्रु नभोवाहन बलवान् छे, पुरुषार्थी साधी शकाय तेम नथी, पटंतु पूर्वभवमां करेला पुण्य वडे शीघ्र वारी शकाय छे।

हिन्दी अनुवाद :-

यह शत्रु नभोवाहन बलवान है, इसे पुरुषार्थ से नहीं जीता जा सकता है, बल्कि पूर्व जन्म में किए गए पुण्य के बल पर ही इसे परास्त किया जा सकता है।

गाहा :-

जइ ताव अत्थि पुन्नं किं कज्जं सुयणु! पुरिसगारेण? ।

अह नत्थि किंचि पुन्नं विहलो ता पुरिसगारोवि ॥२७॥

संस्कृत छाया :-

यदि तावदस्ति पुण्यं किं कार्यं सुतनो? पुरुषकारेण? ।

अथ नास्ति किञ्चित् पुण्यं विफलस्ततः पुरुषकारोऽपि ॥२७॥

१. नवरि (देश्य-अव्यय=शीघ्र), २. सुतनो (पुरुष-संबोधन)

गुजराती अनुवाद :-

अने हे वल्लभ! जो खुणुं पुण्य होय तो पुरुषार्थ करवा वडे शुं लाभ?
अने जो पुण्य नथी तो पुरुषार्थ पण निष्कळ ज छे।

हिन्दी अनुवाद :-

और हे वल्लभ! यदि ऐसा पुण्य हो तो पुरुषार्थ से क्या प्रयोजन? और यदि पुण्य नहीं है तो पुरुषार्थ भी निष्फल ही है।

गाहा :-

एककत्तो मह पुत्रं अन्नत्तो दण्डिओ इमो सत्तु ।

पेच्छामो ता सुंदरि! कस्स जओ होज्ज एयाण? ॥२८॥

संस्कृत छाया :-

एकत्र मम पुण्यमन्यत्र दर्पितोऽयं शत्रुः ।

पश्यावस्तावत् सुन्दरि! कस्य जयो भवेदेतयोः? ॥२८॥

गुजराती अनुवाद :-

सक छाजु मारुं पुण्य अने बीजी छाजु मदोन्मत्त आ शत्रु छे. तेथी हे सुंदरी! आपणे छे हवे जोइस बेमाथी कोनो जय थाय?

हिन्दी अनुवाद :-

एक ओर मेरा पुण्य और दूसरी ओर मदोन्मत्त यह शत्रु है। अतः हे सुन्दरी! अब हम देखते हैं कि दोनों में से किसकी जीत होती है?

गाहा :-

एमाइ-बहु-विगण्यं उल्लवमाणो पियाए सह जाव ।

भो सुप्पइट्ठ! पत्तो तुरिय-गई इह पएसम्मि ॥२९॥

संस्कृत छाया :-

एवमादि बहुविकल्पमुल्लपन् प्रियया सह यावद् ।

भोः सुप्रतिष्ठ! प्राप्तस्त्वरितगतिरिह प्रदेशे ॥२९॥

गुजराती अनुवाद :-

इत्यादि अनेक संकल्प-विकल्पो प्रिया साथे करतो हतो, त्यां तो हे, सुप्रतिष्ठ! उतावली गतिवालो ते आ प्रदेशमां आवी पहींच्यो।

हिन्दी अनुवाद :-

इत्यादि अनेक संकल्प-विकल्प प्रिया के साथ कर रहा था, तभी हे सुप्रतिष्ठ! शीघ्र गतिवाला वह इस प्रदेश में आ पहुँचा।

(नभोवाहननुं आगमन तथा आक्रोश)

गाहा :-

ताव य तुरिययर-गई पत्तो नहवाहणो मह समीवं ।

रोसायासायंजिय-सोय-जलोहलिय-गंड-यलो ॥३०॥

भणियं च तेण रे! रे खयराहम! कथ वच्चसे इन्हिं? ।

इह-पर-लोय-विरुद्धं एरिसं कम्मं समायरिउं? ॥३१॥

(युग्मम्)

संस्कृत छाया :-

तावच्च त्वरिततरगतिः प्राप्तो नभोवाहनो मम समीपम् ।

रोषाऽऽयासासक्त शोकजलौघलिप्त गण्डतलः ॥३०॥

भणितं च तेन रे! रे! खचराधम! कुत्र व्रजसीदानीम् ।

इह-परलोकविरुद्धं ईदृशं कर्मसमाचर्य? ॥३१॥ (युग्मम्)

गुजराती अनुवाद :-

अने तरत ज वधु शीघ्रगतिवालो रोषना परिश्रमथी व्याप्त शोकरूप पाणीना समूहथी लेपायेला कपोलवालो ते नभोवाहन माटी पास आव्यो अने तेना वडे कहेवायुं. 'हे खेचराधम! आ लोक अने परलोक विरुद्ध आवुं कार्य कठीने हवे क्यां जाय छे?'

हिन्दी अनुवाद :-

और तुरन्त ही अत्यन्त शीघ्रगतिवाला, रोष के परिश्रम से व्याप्त शोकरूपी पानी के समूह से लिप्त कपोलवाला वह नभोवाहन मेरे पास आया और उसके द्वारा कहा गया 'हे खेचराधम! इस लोक और परलोक के विरुद्ध ऐसा कार्य करके अब कहाँ जा रहे हो?'

गाहा :-

काउं राय-विरुद्धं नासंतो कथ छुट्टसे पाव! ।

सूयार-साल-वडिओ ससउव्व विणस्ससे इण्हिं ॥३२॥

संस्कृत छाया :-

कृत्वा राजविरुद्धं नश्यन् कुत्र छोटयसि पाप? ।

सूपकारशाला-पतितः शशक इव विनक्ष्यसि इदानीम् ॥३२॥

गुजराती अनुवाद :-

राज्यविरुद्ध कर्म कचीने हे पापी नाशतो खो तुं केवी चीते छूटीश?
रसोईशाळामां आवेला ससलानी माफक तुं हम्पणां मरी जईश।

हिन्दी अनुवाद :-

राज्यविरुद्ध कर्म करके भागता हुआ हे पापी! तुम किस तरह छूट सकेगा?
रसोईघर में आए हुए खरगोश की भाँति तू अभी मारा जाएगा।

गाहा :-

रे! रे! केण बलेणं एरिस-कम्मं तुमे समायरियं? ।

हरिऊण मह महेलं नासंतो कत्थ छुट्टिहिसि? ॥३३॥

संस्कृत छाया :-

रे! रे! केन बलेनेदृश-कर्म त्वया समाचरितम्? ।

हत्वा मम महिलां नश्यन् कुत्र छोटयिष्यसि? ॥३३॥

गुजराती अनुवाद :-

रे! रे! काया (अधर्मीना) चल वडे आवु कार्य तारा वडे करायुं? माटी
पत्नीनुं अपहरण कचीने पलायन थतो तुं हवे क्यां छूटकारो पामीश?

हिन्दी अनुवाद :-

रे! रे! किस अधर्मी के बल पर तेरे द्वारा ऐसा कार्य किया गया? मेरी पत्नी
का अपहरण कर भागते हुए तू अब कैसे छुटकारा पाएगा?

गाहा :-

रे मूढ! केण दिन्ना तुह बुद्धी एरिसा अहम्मेण? ।

अहवा कुविओ दइवो पुरिसं किं हणइ लउडेण? ॥३४॥

संस्कृत छाया :-

रे मूढ! केन दत्ता तव बुद्धिदृष्यधर्मणा? ।

अथवा कुपितो दैवः पुरुषं किं हन्ति लकुटेन? ॥३४॥

गुजराती अनुवाद :-

हे मूढ! क्या अधर्मी वडे तने आवी बुद्धि अपाई? अथवा दैव (भाग्य) ज्यारे कोपायमान थाय छे त्यारे पुरुषने शुं लाकडीवडे मारे छे?

हिन्दी अनुवाद :-

हे मूढ! किस अधर्मी के द्वारा तुझे ऐसी बुद्धि दी गई? अथवा दैव (भाग्य) जब क्रोधित होता है, तब पुरुष को क्या लकड़ी से मारता है?

गाहा :-

रे मूढ! पुन्न-वज्जिय! उम्मग्ग-पयट्ट! नट्ट-मज्जाय! ।

कुविओ तुज्झ कयंतो तेण तुमे एरिसं विहियं ॥ ३५ ॥

संस्कृत छाया :-

रे मूढ! पुण्यवर्जित! उन्मार्ग प्रवृत्त! नष्टमर्याद! ।

कुपितस्तुभ्यं कृतान्तस्तेन त्वया ईदृशं विहितम् ॥ ३५ ॥

गुजराती अनुवाद :-

हे मूढ! पुण्य रहित! उन्मार्गगामी! मर्यादारहित! तारा ऊपर यमराजा कोपित थया छे। तेथी तारा वडे आ प्रमाणे करायुं।

हिन्दी अनुवाद :-

हे मूढ! पुण्य रहित! उन्मार्गगामी! मर्यादारहित! तुम्हारे ऊपर यमराज क्रोधित हुए हैं, इसीलिए तुम्हारे द्वारा ऐसा कार्य किया गया।

गाहा :-

जेण बलेणं एयं राय-विरुद्धं तुमे समायरियं ।

तं कुणसु इण्ह पयडं मा भणिहिसि जं न भणियंति ॥ ३६ ॥

संस्कृत छाया :-

येन बलेन एतद्राजविरुद्धं त्वया समाचरितम् ।

तं कुरु इदानीं प्रकटं मा भणिष्यसि यन्न भणितमिति ॥ ३६ ॥

गुजराती अनुवाद :-

जेना चल वडे तारा वडे आ राज्यविरुद्ध कार्य करायुं छे, तेनुं नाम हमणां मने जणाव, सम्म न कहेतो के मने कोइए कीधु नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

जिस बल के द्वारा तुमसे यह राज्य-विरुद्ध कार्य किया गया है, उसका नाम मुझे अभी बतलाओ, यह मत कहना कि मुझे किसी ने कहा नहीं।

गाथा :-

एसो तुह तिक्खेण सीसं छिंदामि अब्ध-चंदेण ।

जइ अत्थि पोरिसं किंचि होसु ता जुज्झ-सज्जोत्ति ॥३७॥

संस्कृत छाया :-

एष तव तीक्ष्णोऽर्धचंद्रोऽस्त्रिणोऽर्धचन्द्रेण ।

यद्यस्ति पौरुषं किञ्चिद् भव तदा युद्धसज्ज इति ॥३७॥

गुजराती अनुवाद :-

तीक्ष्ण स्रवा अर्धचंद्र (बाण) वडे ताटा आ मस्तकने छेदुं छुं, जो ताटाभां थोडुं पण पराक्रम होय तो युद्ध करवा तैयार थीं जा।

हिन्दी अनुवाद :-

ऐसे तीक्ष्ण अर्धचन्द्र (बाण) के द्वारा तुम्हारे इस मस्तक को काटता हूँ, यदि तुम्हारे अन्दर थोड़ा भी पराक्रम हो तो युद्ध करने को तैयार हो जा।

(नभोवाहन द्वारा हुमलो)

गाथा :-

भो सुप्पइट्ठ! एवं भणिरूणं तेण गरुय-रोसेण ।

आयडिडरूण धणुहं मुक्को मह संमुहो बाणो ॥३८॥

संस्कृत छाया :-

भोः सुप्रतिष्ठ! एवं भणित्वा तेन गुरुकरोषेण ।

आकृष्य धनुर्मुक्तो मम सन्मुखो बाणः ॥३८॥

गुजराती अनुवाद :-

हे सुप्रतिष्ठ! आ प्रमाणे कहीने अत्यंत रोषयुक्त तेणे धनुष्य चढ़ावीने माटी ऊपर बाण छोडयुं।

हिन्दी अनुवाद :-

हे सुप्रतिष्ठ! इस प्रकार कहकर अत्यन्त रोषयुक्त उसने धनुष पर बाण चढ़ाकर मेरे ऊपर छोड़ा।

गाहा :-

अह सो धणुह-विमुक्को वेगेणागम्म मज्झ आसन्ने ।
आवडि व्व सिलाए वलिओ पच्छा-मुहो झत्ति ॥३९॥

संस्कृत छाया :-

अथ स धनुर्विमुक्तो वेगेनाऽऽगम्य ममाऽऽसन्ने ।
आपतित इव शीलायां वलितः पश्चान्मुखो झटिति ॥३९॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे ते धनुषमांथी छूटेलुं बाण वेगपूर्वक मारी नजीक आवी शिला उपर
अथडायेलानी जेम जल्दी पाछुं फर्युं।

हिन्दी अनुवाद :-

अब वह धनुष से छूटा हुआ बाण वेगपूर्वक मेरे नजदीक आकर शिला से
टकराकर लौटे, वैसे ही वापस लौट गया।

गाहा :-

तं दडुं सो खयरो विम्हिय-हियओ ससंकिओ किंचि ।
खणमेगमच्छिरुणं इय वज्जरिउं समाढत्तो ॥४०॥

संस्कृत छाया :-

तं दृष्ट्वा स खचरो विस्मितहृदयः सशङ्कितः किञ्चित् ।
क्षणमेक-मासित्वा इति कथयितुं समारब्धः ॥४०॥

गुजराती अनुवाद :-

ते जोइने विस्मित हृदयवालो कांइक संदेहवालो ते विद्याधरे क्षणवार
रहीने आ प्रमाणे कह्युं ।

हिन्दी अनुवाद :-

यह देखकर आश्चर्यचकित हृदयवाला कुछ संदिग्ध उस विद्याधर ने क्षणभर
रुक कर इस प्रकार कहा।

(विशिष्ट शस्त्रो थी प्रहार)

गाहा :-

जइ कहवि खुह-विज्जा-पभावओ मह सरो पडिक्खलिओ ।
तहवि न छुट्टिसि इण्हि अग्गेयाईण सत्थाण ॥४१॥

संस्कृत छाया :-

यदि कथमपि क्षुद्रविद्याप्रभावतो मम शरः प्रतिस्खलितः ।

तथापि न छोटयसि इदानीमाग्नेयादीनां शस्त्राणाम् ॥४१॥

गुजराती अनुवाद :-

क्षुद्र विद्याना प्रभावथी जो के गमे ते रीते मारुं बाण निष्फल गयुं छे तो पण हालमां मारा (अग्नि संबंधी) आग्नेय आदि शस्त्रोथी तुं छूटीश नहीं।

हिन्दी अनुवाद :-

क्षुद्र विद्या के प्रभाव से किसी भी तरह मेरा बाण निष्फल गया है, परन्तु फिर भी अभी मेरे (अग्नि से सम्बन्धित) आग्नेय आदि शस्त्रों से तुम छूटोगे नहीं।

गाहा :-

एवं च भणंतेणं तेणं आवाहियाइं सत्थाइं ।

अहिमंतिय मंतेहिं मुंचइ इक्किक्कयं कमसो ॥४२॥

संस्कृत छाया :-

एवञ्च भणता तेनाऽऽवाहितानि ।

अभिमन्त्र्य मन्त्रैर्मुञ्चति एकैकं क्रमशः ॥४२॥

गुजराती अनुवाद :-

आम बोलता तेना वडे शस्त्रोने चोलावाया अने क्रमथी एक-एक बाण मंत्रो वडे अभिमन्त्रिने (मारा ऊपर) छोडवा लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार बोलते हुए शस्त्रों का आवाहन किया और क्रमशः एक-एक बाण को अभिमन्त्रित कर (मेरे ऊपर) छोड़ने लगा।

गाहा :-

अविय-

उट्ठित-फुलिंगालं फुरंत-जाला-सहस्स-संवलियं ।

अग्गेयं अइभीमं मज्झ वहड्ढाए पट्टवियं ॥४३॥

संस्कृत छाया :-

अपि च-

उत्तिष्ठन्-सफुल्लिंगं स्फुरज्-ज्वाला-सहस्र-संवलितम् ।

आग्नेय-मतिभीमं मम वधार्थाय प्रस्थापितम् ॥४३॥

गुजराती अनुवाद :-

अने वली उछळता अग्निनां कणियावाळु, विस्तृत हजारा ज्वालाथी व्याप्त, अति भयंकर खं आग्नेय शस्त्र मारा वध माटे तेणे छेड्युं ।

हिन्दी अनुवाद :-

और उछलती हुई अग्नि की चिंगारियों वाले, विस्तृत हजारों ज्वालाओं से व्याप्त, अति भयंकर ऐसा आग्नेय शस्त्र मेरे वध के लिए उसने छोड़े।

(मणिना प्रभावे चित्रवेग नी सलामती)

गाहा :-

तंपि हु मह आसन्ने मणि-प्पभावाओ होउमसमत्थं ।

पासे संभमिऊणं विज्झायं झत्ति ततो य ॥४४॥

संस्कृत छाया :-

तदपि खलु ममाऽऽसन्ने मणिप्रभावाद् भूत्वाऽसमर्थम् ।

पाश्वे सम्भ्रम्य विध्यातं झटिति ततश्च ॥४४॥

गुजराती अनुवाद :-

ते आग्नेय शस्त्र पण मारी पासे आव्युं तो खरुं पण दिव्यमणिना प्रभावथी असमर्थ थइने मारी पासे भमीने तरत ज पछी छुझाई गयुं... (शांत थई गयुं)

हिन्दी अनुवाद :-

वह आग्नेय शस्त्र भी मेरे पास आया तो परन्तु दिव्यमणि के प्रभाव से असमर्थ होकर मेरे चारों ओर घूमकर तुरन्त ही बुझ गया... (शान्त हो गया)।

गाहा :-

वारुण-वायव्वाइं पट्टुवियाइं कमेण सत्थाइं ।

ताणिवि मणि-प्पभावा दूरिच्चिय मह विलीणाइं ॥४५॥

संस्कृत छाया :-

वारुण-वायव्ये प्रस्थापिते क्रमेण शस्त्रे ।

तेऽपि मणि-प्रभावा-हूरैव मम विलीने ॥४५॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यारपछी अनुक्रमे वारुण-वायव्य विगेरे शस्त्रो मारी ऊपट अजमावी जीया ते दरेक शस्त्रो मारा मणिना प्रभावथी दूरथी ज विलीन थई गया।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद क्रमशः वारुण-वायव्य आदि शस्त्र मेरे ऊपर प्रयोग करके देखा, वे सारे शस्त्र मेरे मणि के प्रभाव से दूर से ही विलीन हो गए।

गाथा :-

अह ताणि अमोहाणिवि पडिहय-सत्तीणि दडुं सत्थाणि ।

जाओ विच्छाय-मुहो राय-सुओ विम्हयविन्खत्तो ॥४६॥

संस्कृत छाया :-

अथ तान्यमोघान्यपि प्रतिहत-शक्तीनि दृष्ट्वा शस्त्राणि ।

जातो विच्छायमुखो राजसुतो विस्मयाऽऽक्षिप्तः ॥४६॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे अमोघ शक्तिवाला पण (ते शस्त्रोने निष्फल पावतां) हणायेली शक्तिवाला जोइने ते (नभोवाहन) राजपुत्र उदास मोढ़वालो अने आश्चर्यचकित थयो।

हिन्दी अनुवाद :-

अब अमोघ शक्तिवाले शस्त्र भी (उन शस्त्रों के निष्फल हो जाने पर) हास हो गई है शक्ति जिसकी, ऐसा वह (नभोवाहन) राजपुत्र उदास मुखवाला और आश्चर्यचकित हो गया।

गाथा :-

खणमेगमच्छरुणं पुणोवि सो एरिसं समुल्लवइ ।

रे खयराहम! दर्पं मा हु करिज्जासि निय-चित्ते ॥४७॥

संस्कृत छाया :-

क्षणमेकमासित्वा पुनरपि स ईदृशं समुल्लपति ।

रे! खचराधम! दर्पं मा खलु कुरु निजचित्ते ॥४७॥

गुजराती अनुवाद :-

एक क्षण रहीने ते नभोवाहन आ प्रभाणे बोलवा लाग्यो, हे अधम विद्याधर! तारा चित्तमां अभिमान कयीश नहीं के...

हिन्दी अनुवाद :-

एक क्षण रुककर वह नभोवाहन इस प्रकार बोलने लगा, हे अधम विद्याधर! तू अपने मन में अभिमान मत करना कि...

गाहा :-

मह मंतस्स पभावा विज्जाए वावि ओसहीए वा ।
एमाइं सत्थाइं निहय-पयावाइं जायाइं ॥४८॥

संस्कृत छाया :-

मम मन्त्रस्य प्रभावाद् विद्यया वाऽऽपि औषध्या वा ।
एवमादीनि शस्त्राणि निहत-प्रतापानि जातानि ॥४८॥

गुजराती अनुवाद :-

मारा मंत्रना प्रभावथी, विद्या के औषधिना प्रभावथी आ सर्व शस्त्रो
हणायेला प्रभाववाला थया।

हिन्दी अनुवाद :-

मेरे मंत्र के प्रभाव से, विद्या या औषधि के प्रभाव से ये सारे शस्त्र हत
प्रभाववाले हुए।

गाहा :-

जओ

मंतेण व तंतेण व हंतुं सक्कंति नेव एयाइं ।

किंतु निसुणेसि कारणमेतेहिं जं न निहओ तं ॥४९॥

संस्कृत छाया :-

यतः

मन्त्रेण वा तन्त्रेण वा हन्तुं शक्नुवन्ति नैवेतानि ।

किन्तु निश्रुणोषि कारणमेतैर्यन्न निहतस्त्वम् ॥४९॥

गुजराती अनुवाद :-

कोई मंत्र वडे के तंत्र वडे आ मारा अमोघ शस्त्रोने हणवा कोई
शक्तिमान नथी, परंतु आ मारा शस्त्रोस जे तने न हण्यो तेनुं कारण सांभळ...

हिन्दी अनुवाद :-

किसी मन्त्र या तन्त्र के द्वारा मेरे इन अमोघ शस्त्रों को असफल करने के
लिए कोई भी समर्थ नहीं है, परन्तु मेरे ये शस्त्र तुम्हें नहीं मार सकें, इसका कारण
सुन...

गाहा :-

एसो हु पावकारी सुह-मच्चूए न चैव जोग्गोत्ति ।
ता दुह-मारेण इमो मारेयव्वो तुमे कुमर! ॥५०॥
इय मज्झ सिक्खणत्थं हओ तुमं नेव दिव्व-सत्थेहिं ।
न उणो तुह विज्जाहिं हम्मइ सत्तीओ एएसिं ॥५१॥ युग्मम्॥

संस्कृत छाया :-

एष खलु पापकारी सुखमृत्यो नैव योग्य इति ।
तस्माद् दुःखमारेणाऽयं मारयितव्यस्त्वया कुमार! ॥५०॥
इति मम शिक्षणार्थं हतस्त्वं नैव दिव्यशस्त्रैः ।
न पुनस्तव विद्याभिर्हन्यते शक्तय एतेषाम् ॥५१॥ (युग्मम्)

(महान शस्त्रों द्वारा मरवानी चित्रवेगनी अयोग्यता)

गुजराती अनुवाद :-

आ (चित्रवेग) बहु पापकारी छे, तेथी सुखपूर्वक मृत्युने योग्य नथी, तेथी (हे! नभोवाहन!) ताटा वडे आ कुमार दुःखी थाय तेवा मार वडे मरावो जोइए। आ प्रमाणे मने शिक्षा आपवा माटे आ दिव्य शस्त्रो वडे तुं हणाये नहीं, पण ताटी विद्या वडे ए शस्त्रोनी शक्ति नाश नथी पायी।

हिन्दी अनुवाद :-

यह (चित्रवेग) बहुत पापकारी है, जिसके कारण सुखपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होने योग्य नहीं है, अतः (हे नभोवाहन!) तेरे द्वारा यह कुमार दुःखी हो इस प्रकार इसे मारना चाहिए। इस प्रकार मुझे शिक्षा देने के लिए इन दिव्य शस्त्रों के द्वारा तू नहीं मरा, परन्तु तेरी विद्या के द्वारा इन शस्त्रों की शक्ति नष्ट नहीं हुई।

गाहा :-

ता इण्हि मह न छुट्टिसि पायालं जइवि पविससे मूढ! ।
मोरोवि अहव धिप्पइ हंत! तइज्जम्मि उट्टाणे ॥५२॥

संस्कृत छाया :-

तस्मादिदानीं मत्र छुटसि पातालं पद्यपि प्रविशसि मूढ! ।
मयूरोऽपि अथवा गृह्यते हन्त! तृतीयस्मिन् उट्टयने ॥५२॥

गुजराती अनुवाद :-

तेथी हे मूर्ख! जो तुं हवे पातालमां पण पेसीश तो पण मार्याथी छूटीश
नहीं अथवा (मयूर) मोट पण त्रीजीवाट उडतो पकडाय छे।

हिन्दी अनुवाद :-

अतः हे मूर्ख! यदि तू पाताल में भी चले जाओगे तो भी मुझसे बच नहीं
सकोगे, अथवा मयूर भी तीसरी उड़ान में पकड़ में आ जाता है।

गाहा :-

रे खयराहम! इण्ह कत्तो मह जासि दिट्ट-पह-पडिओ? ।

दुह-मच्चूए एसो मारेमि तुमं न संदेहो ॥५३॥

संस्कृत छाया :-

रे खचराधम! इदानीं कुतो मम यासि दृष्टिपथपतितः? ।

दुःखमृत्योरेष मारयामि त्वां न सन्देहः ॥५३॥

गुजराती अनुवाद :-

हे खेचराधम! हवे मारी नजरमां आवेला तु अत्यारे क्यां जईश?
तने चीबावीने मारी तेमां शंका नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

हे अधम खेचर! अब मेरी नजर में आकर तुम कहाँ जाओगे? मैं तुझे रुला-
रुलाकर मारूँगा, इसमें कोई शंका नहीं है।

(नागिनी विद्यानो प्रयोग)

गाहा :-

भो सुप्पइट्ट! एवं भणिरुणं गरुय-अभिनिवेशेणं ।

नहवाहणेण नागिणि-विज्जा आवाहिया तत्तो ॥५४॥

संस्कृत छाया :-

भो! सुप्रतिष्ठ! एवं भणित्वा गुरुकाभिनिवेशेन ।

नभोवाहनेन नागिनीविद्या आवाहिता ततः ॥५४॥

गुजराती अनुवाद :-

हे सुप्रतिष्ठ! आ प्रमाणे कहीने (रोषवाला) नभोवाहन वडे अति
आग्रहपूर्वक नागिनी विद्यानुं आह्वान करायुं (अर्थात् बोलावाई)।

हिन्दी अनुवाद :-

हे सुप्रतिष्ठ! इस प्रकार कहकर (क्रोधित) नभोवाहन के द्वारा अत्यन्त आग्रहपूर्वक नागिनी विद्या का आवाहन किया गया।

गाहा :-

**भीषण-भुयगेहिं खणेण वेढियं उग्ग-विस-वियारेहिं ।
सव्वंगेसु बद्धो सराग-जीवोव्व कम्मेहिं ॥५५॥**

संस्कृत छाया :-

**भीषण-भुजगैः क्षणेन वेष्टितमुग्रविषविकारैः ।
सर्वाङ्गेषु बद्धः सरागजीव इव कर्मभिः ॥**

गुजराती अनुवाद :-

*जेम रागी जीव कर्म वडे बंधाय तेम हुं क्षणवारमां उग्रविषथी विकृतियुक्त
सर्पो वडे सर्वाङ्गोमां बंधायो !*

हिन्दी अनुवाद :-

जिस प्रकार रागी जीव कर्म के द्वारा बांधा जाता है, उसी प्रकार मैं क्षण में उग्र विष से विकृतियुक्त सर्पों के द्वारा बांधा गया।

गाहा :-

**तत्तो महंत-वियणा पाउब्भूया ममं तओ देहं^१ ।
गयणाओ निवडिओ हं भुयंग-भारेण भूमौ ॥५६॥**

संस्कृत छाया :-

**ततो महत्वेदना प्रादुर्भूता माम् ततो देहे ।
गगान्निपतितोऽहं भुजङ्गभारेण भूमौ ॥५६॥**

गुजराती अनुवाद :-

*त्यारपछी (ते बंधनथी) मने शरीरमां भारे वेदना उत्पन्न थवा मांडी,
तेमज सर्पोनां भार वडे हुं गगनमांथी पृथ्वी पर पडयो।*

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद (उस बन्धन से) मेरे शरीर में भयंकर वेदना उत्पन्न होने लगी, साथ ही सर्पों के भार से मैं आकाश से पृथ्वी पर गिर पड़ा।

१. ८।३।१३७ सूत्रथी सप्तमीना स्थाने द्वितीया छे।

(चित्रवेगनुं पृथ्वीपर पतन)

गाहा :-

वियणाए विब्भलंगो संवलि-तरुणो इमस्स हिट्टम्मि ।
गय-चेयणोव्व जाओ भुयंग-संघाय-उब्बद्धो ॥५७॥

संस्कृत छाया :-

वेदनया विह्वलाङ्गः शाल्मलितरोरस्याधः ।
गतचेतन इव जातो भुजङ्ग-सङ्घातोद्बद्धः ॥५७॥

गुजराती अनुवाद :-

वेदनाथी व्याकुल अंगवालो (शाल्मली) आ सेमलना वृक्षनी नीचे सर्प
समूहथी बंधायेलो चैतन्य रहित जेवो थई गयो।

हिन्दी अनुवाद :-

वेदना से व्याकुल अंगवाला (शाल्मली) इस सेमल के वृक्ष के नीचे सर्पसमूह
से बँधा हुआ चैतन्य रहित के समान हो गया।

(कनकमालानो विलाप)

गाहा :-

सावि मह पाण-दइया गरुयं दट्टुण आवयं मज्झं ।
अइदुक्खिया वराई रोयंता घघर-सरेण ॥५८॥

संस्कृत छाया :-

सापि मम प्राणदयिता गुरुकां दृष्ट्वा आपदं मम ।
अतिदुःखिता वराकी रुदन्ती घर्घर-स्वरेण ॥५८॥

गुजराती अनुवाद :-

ते माची प्राणप्रिया पण दुःसह सवी माची (वेदना) भाटे तकलीफ जोइने
(गद्गद् स्वरे) खीखरा अवाजे रडती बिचारी (खूब) बहु दुःखी थई।

हिन्दी अनुवाद :-

वह मेरी प्राणप्रिया भी दुःसह मेरी (वेदना) भयंकर कष्ट देखकर (गद्गद् स्वर
में) सिसकती और रोती हुई बेचारी बहुत दुःखी हुई।

गाहा :-

हा अज्जउत्त! वल्लह! एय-अणत्थस्स कारिणी अहयं ।

हा! पाविट्ठा तइया किं न मया मयण-पच्चक्खं? ॥५९॥

संस्कृत छाया :-

हा आर्यपुत्र! हे वल्लभ! एतदनर्थस्य कारिण्यहकम् ।

हा! पापिष्ठे! तदा किं न मृता मदनप्रत्यक्षम्? ५९॥

गुजराती अनुवाद :-

हे आर्यपुत्र! हे वल्लभ! आ च्छदां अनर्थनुं कारण हुं ज छूं। अने पोताने संबोधीने बोलवा लागी 'हे पापिष्ठा! हुं ते समये कामदेव सम्मक्ष केम न मरण पाबी?'

हिन्दी अनुवाद :-

हे आर्यपुत्र! हे वल्लभ! इन सारे अनर्थों का कारण मैं ही हूँ। और स्वयं को सम्बोधित कर बोलने लगी 'हे पापिनी! मैं उस समय कामदेव के समक्ष क्यों नहीं मर गई?'

गाहा :-

हा! कह मज्झ निमित्ते पिययम! अइगरुय-आवयं पत्तो ।

हा! अज्जउत्त! इण्हिं तुह विरहे नत्थि मह जीयं ॥६०॥

संस्कृत छाया :-

हा कथं मम निमित्ते हे प्रियतम! अतिगुरुकापदं प्राप्तः ।

हा आर्यपुत्र! इदानीं तव विरहे नास्ति मम जीवितम् ॥६०॥

गुजराती अनुवाद :-

हे प्रियतम! मारा कारणे आप मोटी आपत्तिने पाभ्या छो। हे आर्यपुत्र! हवे आपना विरहमां मारुं जीवन टकवानुं नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

हे प्रियतम! मेरे कारण ही आप भयंकर विपत्ति में पड़े हैं। हे आर्यपुत्र! अब आपके विरह में मेरा जीवित रहना सम्भव नहीं है।

गाहा :-

भो! भो! धणदेव! इमं सोउं खयरस्स भासियं तस्स ।

एत्थंतरम्मि य महं एस विगप्पो समुप्पन्नो ॥६१॥

संस्कृत छाया :-

भो! भो! धनदेव! इदं श्रुत्वा खचरस्य भाषितं तस्य ।

अत्रान्तरे च मम एष विकल्पः समुत्पन्नः ॥६१॥

गुजराती अनुवाद :-

सटलीवारमां हे धनदेव! ते विद्याधरनुं आ चोलेलुं सांभळीने तुरंत मने
सक विकल्प उत्पन्न थयो।

हिन्दी अनुवाद :-

इतनी ही देर में हे धनदेव! उस विद्याधर के वचन सुनकर मेरे मन में तुरन्त
ही एक विकल्प उत्पन्न हुआ।

गाथा :-

महिला-पलाव-सद्दो पुव्विं जो आसि इह मए निसुओ ।

एय-दइयाए नूणं सो होही कणगमालाए ॥६२॥

संस्कृत छाया :-

महिला-प्रलाप-शब्दःपूर्व य आसीदिह मया निःश्रुतः ।

एतद्व्यतिताया नूनं स भविष्यति कनकमालायाः ॥६२॥

गुजराती अनुवाद :-

पहेला माटा वडे संभळायेलो जे स्त्रीना प्रलापनी शब्द हतो, ते शब्द
सनी पत्नी कनकमालानो ज नक्की होवो जोइए।

हिन्दी अनुवाद :-

पहले मेरे द्वारा सुने गए जो स्त्री प्रलाप के शब्द थे, वे शब्द निश्चित ही
उसकी पत्नी कनकमाला के होने चाहिए।

गाथा :-

तत्तो य पुरिस-सद्दो तयणंतरमेव जो मए निसुओ ।

नहवाहणस्स होही सो सद्दो एय-सत्तस्स ॥६३॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च पुरुष-शब्दस्तदनन्तरमेव यो मया निःश्रुतः ।

नभोवाहनस्य भविष्यति स शब्द एतत्-सक्तस्य ॥६३॥

गुजराती अनुवाद :

त्याएपछी तएत ज पुरुषनो जे शब्द मारु वडे संभलायो ते शब्द रुपीमां
आसक्त सवा नभोवाहन राजानो हशे।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद तुरन्त ही पुरुष के जो शब्द मेरे द्वारा सुने गए, वे शब्द उसके
प्रति आसक्त नभोवाहन राजा के होंगे।

गाहा :-

अहवा किं मह इमिणा विचिंतिएणं तु ताव निसुणेमि ।
जं किंचि कहइ एसो निय-चरियं चित्तवेगोत्ति ॥६४॥

संस्कृत छाया :-

अथवा किं ममानेन विचिन्तितेन तु तावन्निश्रुणोमि ।
यत्किञ्चित् कथयति एष निजचरित्रं चित्रवेग इति ॥६४॥

गुजराती अनुवाद :-

अथवा तो निरर्थक आ कल्पना करवा वडे मारु शू? प्रथम आ चित्रवेग
पोतानुं जे कई चरित्र कहे छे ते सांभळुं।

हिन्दी अनुवाद :-

अथवा तो इस निरर्थक कल्पना करने से मुझे क्या? पहले यह चित्रवेग अपना
जो चरित्र कहता है, उसे सुनूँ।

(चित्रवेग द्वारा सुप्रतिष्ठने कहेवायेलुं पोतानुं चरित्र)

गाहा :-

एवं विचिंतिरूणं ततो घणदेव! सुणिउमाढत्तो ।
तव्वयणमहं सव्वं, अह सो एवं समुल्लवइ ॥६५॥

संस्कृत छाया :-

एवं विचिन्त्य ततो धनदेव! श्रोतुमारब्धः ।
तद्वचनमहं सर्वमथ स एवं समुल्लपति ॥६५॥

गुजराती अनुवाद :-

पछी ए प्रमाणे विचारिने हे धनदेव! तेना सर्व वचन सांभलवा मारु
में प्रारंभ कर्यो, हवे ते आ प्रमाणे चोले छे।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद सोचकर हे धनदेव! उसके सभी वचनों को सुनना मैंने प्रारम्भ किया, वह कहने लगा।

गाहा :-

भो सुप्पइट्ठ! एवं विलवंता बहुविहं सदुक्खत्ता ।
नहवाहणेण नीया मज्झ पिया कणगमालत्ति ॥६६॥

संस्कृत छाया :-

भो सुप्रतिष्ठ! एवं विलपन्ती बहुविधं सुदुःखार्ता ।
नभोवाहनेन नीता मम प्रिया कनकमालेति ॥६६॥

गुजराती अनुवाद :-

हे सुप्रतिष्ठ! आ प्रमाणे भारे दुःखंथी पीडाती घणा प्रकारे विलाप करती
भायी प्रिया कनकमाला नभोवाहन वडे लई जवाई।

हिन्दी अनुवाद :-

हे सुप्रतिष्ठ! इस प्रकार अत्यन्त दुःख से पीड़ित अनेक प्रकार के विलाप करती हुई मेरी प्रिया कनकमाला नभोवाहन के द्वारा ले जाई गई।

(चन्द्रप्रभादेवीनुं च्यवन अने सुप्रतिष्ठ द्वारा चित्रवेगनी मुक्ति)

गाहा :-

अहयंपि तओ दुसह-विसहर-कय-वेयणाए वेवंतो ।
दइया-विओय-गुरु-दुक्ख-ताविओ जाव चिट्ठामि ॥६७॥
भो सुप्पइट्ठ! ताव य तुमंपि इह आगमो पएसम्मि ।
तुमए मणि-नीरेणं एसो मेल्लाविओ अहयं ॥६८॥ (युग्मम्)

संस्कृत छाया :-

अहकमपि ततो दुःसह-विषधर-कृत-वेदनया वेपमानः ।
दयितावियोग-गुरुदुःख-तापितो यावत् तिष्ठामि ॥६७॥
भोः सुप्रतिष्ठ! तावच्च त्वमपि इहाऽऽगतः प्रदेशे ।
त्वया मणिनीरेण एष मोचितोऽहकम् ॥ ६८॥ (युग्मम्)

गुजराती अनुवाद :-

हूं पण त्यारपछी सर्पोस करेली असह्य वेदनाथी कंपतो अने पत्नीना वियोगथी थयेला भाटे दुःख वडे तप्त ज्यां सुधी रह्यो...तेवलाभां हे सुप्रतिष्ठ! तमे पण आ स्थानभां आव्या अने दिव्य मणिना पाणी द्वारा तमारा वडे हूं (वेदना) मुक्त करायो।

हिन्दी अनुवाद :-

मैं भी उसके बाद सर्पों के द्वारा दी गई असह्य वेदना से कांपता हुआ और अपनी पत्नी के वियोग से उत्पन्न दारुण दुःख से संतप्त जब तक रहा... इतने में हे सुप्रतिष्ठ! आप भी इस स्थान पर आए और दिव्य मणि के पानी से आपके द्वारा मैं मुक्त किया गया।

गाहा :-

ता भो! तुमए दिन्नं मह जीयं एत्थ नत्थि संदेहो ।
मणिणो य पभावाओ न य डक्को दुट्ट-सप्पेहिं ॥६९॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद् भोस्त्वया दत्तं मम जीवितमत्र नास्ति सन्देहः ।
मणेश्च प्रभावान्न च दष्टो दुष्ट-सर्पैः ॥६९॥

गुजराती अनुवाद :-

तेथी तमारा वडे मने जीवितदान अपायुं छे, तेभां संदेह नथी, वळी मणिना प्रभावथी दुष्ट सर्पो वडे हूं डंसायो पण नहीं।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार आपके द्वारा मुझे जीवनदान दिया गया है, इसमें सन्देह नहीं है, यहाँ तक कि मणि के प्रभाव से दुष्ट सर्पों के द्वारा मैं डंसा भी नहीं गया।

(प्रियंगुमञ्जरीना शोकनुं कारण)

गाहा :-

अन्नह कह मह जीयंह हविज्ज गुरु-वेयणा-परद्धस्स^१ ।
कीणास-वयण-सच्छह-भीसण-भुयगोह-गहियस्स? ॥७०॥

संस्कृत छाया :-

अन्यथा कथं मम जीवितं भवेद्गुरुवेदनापरद्धस्य^१ ।
कीनाश-वदन-सच्छाय-भीषण-भुजगौघ-गृहीतस्य? ॥७०॥

१. परद्धस्य (देश्य) पीड़िता।

गुजराती अनुवाद :-

अन्यथा यमना मुखसम्मान भयंकर सर्पो वडे ग्रहण करायेला तथा असह्य वेदनाथी पीडा पावता रवा मारुं जीवन (त्याचे) क्यांथी होय?

हिन्दी अनुवाद :-

अन्यथा यमराज के मुख के समान भयंकर सर्पों के द्वारा ग्रहण किया गया तथा असह्य वेदना से पीड़ा पाता हुआ मेरा जीवन (उस समय) कहाँ से होता?

गाहा :-

तं जं तुमए पुट्टं केण तुमं एरिसाए महईए ।

खित्तो सि आवयाए तं सव्वं साहियं एयं ॥७१॥

संस्कृत छाया :-

तद् यद् त्वया पृष्टं केन त्वमीदृश्यां महत्याम् ।

क्षिप्तोऽसि आपदि तत्सर्वं कथितमेतद् ॥७१॥

गुजराती अनुवाद :-

ते तमे आवी मोटी आपत्तिमां केम आव्या? स प्रमाणे जे तमारा वडे पूछायुं ते सर्वे मारा वडे आपने आ कहेवायुं!

हिन्दी अनुवाद :-

तो आप इस भयंकर विपत्ति में कैसे आए? इस प्रकार जो आपके द्वारा पूछा गया, वह सब मेरे द्वारा आपको इस प्रकार कहा गया।

(धनदेवने संबोधीने सुप्रतिष्ठ द्वारा चित्रवेगनुं वर्णन)

गाहा :-

इय भो घणदेव! तया सोउं खयरस्स भासियं तस्स ।

तत्तो य मए एयं विचिंतियं नियय-चित्तम्मि ॥७२॥

संस्कृत छाया :-

इति भो धनदेव! तदा श्रुत्वा खचरस्य भाषितं तस्य ।

ततश्च मया एतद् विचिन्तितं निजकचित्ते ॥७२॥

गुजराती अनुवाद :-

स प्रमाणे ते चित्रवेग विद्याधरनो वृत्तांत सांभलीने हे धनदेव! त्याचे में पोताना चित्तमां (आ प्रमाणे) विचार्युं।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार उस चित्रवेग विद्याधर का वृत्तान्त सुनकर हे धनदेव! तब मैंने अपने हृदय में (ऐसा) विचार किया।

(विषयासक्तिथी बुद्धिमानोने पण आपत्तिओ)

गाहा :-

पेच्छ नरा विबुहावि हु अणुराय-परवसा विसय-गिब्दा ।
पाविंति आवयाओ विविहाओ एत्थ संसारे ॥७३॥

संस्कृत छाया :-

पश्यत नरा विबुधाऽपि खल्वनुराग-परवशा विषयगृब्धाः ।
प्राप्नुवन्ति आपदो विविधा अत्र संसारे ॥७३॥

गुजराती अनुवाद :-

अरे जुओ! अनुरागमां परवशा थयेला तथा विषयोमां आसक्त खा
बुद्धिमानो पण आ संसारमां विविध आपत्तिओने प्राप्त करे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

अरे देखो! अनुराग में परवश हुए तथा विषयों में आसक्त ऐसे बुद्धिमान भी इस संसार में विविध आपत्तियों को प्राप्त करते हैं।

(रागथी आ लोकमां पण आपत्ति)

गाहा :-

अच्छउ ता पर-लोगे इहेव पाविंति गरुय-दुक्खाइं ।
राग-विमोहिय-चित्ता कज्जाकज्जं अयाणंता ॥७४॥

संस्कृत छाया :-

आस्तां तावत् परलोके इहैव प्राप्नुवन्ति गुरुकदुःखानि ।
रागविमोहित-चित्ताः कार्याकार्यमजानन्तः ॥७४॥

गुजराती अनुवाद :-

परलोक तो दूर रहो पण आ लोकमां ज रागथी व्याकुल चित्तवाला
तथा कार्य-अकार्यने नहीं जाणता प्राणीओ मोटी आपत्तिओने प्राप्त करे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

परलोक तो दूर की बात है, इस लोक में ही राग से व्याकुल चित्तवाले तथा

कार्य-अकार्य को नहीं जानने वाले प्राणी भयंकर विपत्तियों को प्राप्त करते हैं।

(धारिणी सखीद्वारा आश्वासन)

गाथा :-

शारीर-माणसाणं दूसह-दुक्खाण कारणं पढमं ।

इह पर-लोए घोरो रागो च्चिय सयल-जीवाणं ॥७५॥

संस्कृत छाया :-

शारीरमानसानां दुःसह-दुःखानां कारणं प्रथमं ।

इह परलोके घोरो राग एव सकलजीवानाम् ॥७५॥

गुजराती अनुवाद :-

आ लोक अने परलोकमां समस्त जीवोने शारीरिक अथवा मानसिक
ख (दुःसह) असह्य दुःखोनुं मुख्य कारण घोट खो राग ज छे।

हिन्दी अनुवाद :-

इस लोक और परलोक में समस्त जीवों को शारीरिक अथवा मानसिक
(दुःसह) असह्य दुःखों का मुख्य कारण घोर राग ही है।

गाथा :-

रागंधा इह जीवी दुल्लह-लोयम्मि गाढमणुरत्ता ।

जं वेइंति असायं कत्तो तं हंदि! नरएवि? ॥७६॥

संस्कृत छाया :-

रागान्धा इह जीवा दुर्लभलोके गाढमनुरक्ताः ।

यद् वेदयन्ति अशातं कुतस्तद्धन्दि^१ नरकेऽपि? ॥७६॥

गुजराती अनुवाद :-

दुर्लभ खवा मानवभवमां पण गाढ रागवाला रागांध जीवो जे (असाता)
दुःख (वेदनीय) ने अनुभवे छे तेवी वेदना नरकमां पण क्क्यांथी होय?

हिन्दी अनुवाद :-

इस दुर्लभ मानव भव में भी प्रगाढ़ राग वाले रागांध जीव जो (असाता) दुःख
(वेदनीय) का अनुभव करते हैं, वैसी वेदना नरक में भी कहाँ होती है?

१. कुतस्तद्धन्दि-आश्चर्यार्थि अव्यय ।

गाहा :-

वल्लह-विओय-तविया असमंजस-चिड्डियाइं कुणमाणा ।
नरए नेरइया इव निच्चं चिय दुक्खिया होति ॥७७॥

संस्कृत छाया :-

वल्लभवियोगतप्ता असमञ्जस-चेष्टितानि कुर्वन्तः ।
नरके नैरयिका इव नित्य-मेव दुःखिता भवन्ति ॥७७॥

गुजराती अनुवाद :-

वळी प्रिय वस्तुना वियोगथी दुःखी (आक्रांत) थयेला प्राणीओ अयोग्य
आचारने आचरतां नरक मां नारकीना जीवोनी जेम हमेशा ज दुःखी थाय
छे।

हिन्दी अनुवाद :-

प्रिय वस्तु के वियोग से दुःखी (आक्रांत) प्राणी अयोग्य आचरण करते हुए
नरक के नारकी जीवों के समान हमेशा दुःखी होते हैं।

गाहा :-

वह-बंध-मारणाइं लहंति रागेण मोहिया जीवा ।
वच्चंति दुग्गईए सहंति विविहाइं दुक्खाइं ॥७८॥

संस्कृत छाया :-

वधबन्धमारणानि लभन्ते रागेण मोहिता जीवाः ।
व्रजन्ति दुर्गतौ सहन्ते विविधानि दुःखानि ॥७८॥

गुजराती अनुवाद :-

रागथी मोह पामेला जीवो वध-बंध-मरण वगेटे पीडा पामे छे (अंते)
दुर्गतिमां जाय छे अने विविध दुःखोने सहन करे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

राग से मोह को प्राप्त जीव वध-बंध-मृत्यु आदि की पीड़ा प्राप्त करता है
(अन्त में) दुर्गति में जाता है और विविध दुःखों को सहन करता है।

गाहा :-

रागो हि दुक्ख-रूवो रागो च्चिय सयल-आवया-हेऊ ।
राग-परद्धा जीवा भमंति भव-सागरे घोरे ॥७९॥

संस्कृत छाया :-

रागो हि दुःखरूपो राग एव सकलापद्धेतुः ।

रागपरब्धा जीवा भ्रमन्ति भवसागरे घोरे ॥७९॥

गुजराती अनुवाद :-

खरैखर राग स दुःख रूप छे। राग ज समस्त आपत्तिओनुं कारण छे। रागथी पीडायेला घेरायेला जीवन भयंकर भव सागरमां परिभ्रमण करे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

सचमुच राग दुःखरूप है। राग ही समस्त आपत्तियों का कारण है। राग से पीड़ित और घिरा हुआ जीव भयंकर भवसागर में परिभ्रमण करता है।

(रागरहितने परमसुख)

गाथा :-

ताव च्चिय परम-सुहं जाव न रागो मणामि उच्छरइ ।

हंदि! सरागामि मणे दुक्ख-सहस्साइं पविसंति ॥८०॥

संस्कृत छाया :-

तावदेव परम-सुखं यावन्न रागो मनसि उच्छलति ।

हन्दि। सरागे मनसि दुःखसहस्राणि प्रविशन्ति ॥८०॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यां सुधी ज परम सुख छे के ज्यां सुधी मनमां राग पैदा थयो नथी। रागी मनमां तो हजारे दुःखो प्रवेश करे ज छे।

हिन्दी अनुवाद :-

तब तक ही परम सुख है, जब तक मन में राग पैदा नहीं हुआ। रागी मन में तो हजारों दुःख प्रवेश करता ही है।

गाथा :-

एमाइ चिंतिरुणं धणदेव! मए इमं तु वज्जरियं ।

भो चित्तवेग! इण्हि मा कीरउ कोवि सोगोत्ति ॥८१॥

१. हंदि-निश्चयार्थे अव्यय ।

संस्कृत छाया :-

एवमादि चिन्तयित्वा धनदेव! मयेदं तु कथितम् ।

भो चित्रवेग! इदानीं मा क्रियतां कोऽपि शोक इति ॥८१॥

गुजराती अनुवाद :-

आ प्रमाणे चिंतवन करीने हे धनदेव! मारा वडे तेने कहेवायुं हे चित्रवेग! हवे तारा द्वारा कोइपण प्रकारनी शोक न कराया।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार चिन्तन करके हे धनदेव! मेरे द्वारा उसे कहा गया 'हे चित्रवेग! अब तुम किसी भी प्रकार का शोक मत करना'।

गाथा :-

जं एसो संसारो एरिस-दुक्खाण नियय-आवासो ।

पत्ताए आवयाए तेण विसाओ न कायव्वो ॥८२॥

संस्कृत छाया :-

यदेष संसार ईदृश-दुःखानां नियताऽऽवासः ।

प्राप्तायामापदि तेन विषादो न कर्तव्यः ॥८२॥

गुजराती अनुवाद :-

कारण के आ संसार आवा प्रकारनां दुःखीनुं चोक्कस घट ज छे तेथी आपत्ति आवे छते विषाद करवो योग्य नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

कारण कि यह संसार इस प्रकार के दुःखों का स्थायी निवास है, जिससे आपत्ति आने पर विषाद करना उचित नहीं है।

गाथा :-

जर-मरण-रोग-वल्लह-विओग-बहुलम्मि एत्थ संसारे ।

जम्हा स-कम्म-जणियं जायइ जीवाण दुक्खंति ॥८३॥

संस्कृत छाया :-

जरामरणरोग-वल्लभविद्योग-बहुलेऽत्र संसारे ।

यस्मात् स्वकर्मजनितं जायते जीवानां दुःखमिति ॥८३॥

गुजराती अनुवाद :-

घडपण मरण-रोग अने इष्टना वियोगथी भरेला आ संसारान्नां प्राणीओने पोते बांधेला कर्मनां अनुसारे दुःख थाय छे।

हिन्दी अनुवाद :-

वृद्धावस्था, मृत्यु-रोग तथा इष्ट व्यक्ति के वियोग से भरे हुए इस संसार में प्राणियों को अपने द्वारा बांधे गए कर्मों के अनुसार दुःख प्राप्त होता है।

(चित्रवेगनी पीडा)

गाहा :-

तो भणइ चित्तवेगो भद्र! विसाओ न कोवि मह अन्नो ।
एकच्चिय मह चिंता कुणइ मणे दूसहं दुक्खं ॥८४॥

संस्कृत छाया :-

ततो भणित चित्रवेगो भद्र! विषादो न कोऽपि ममान्यः ।
एकैव मम चिन्ता करोति मनसि दुःसहं दुःखम् ॥८४॥

(चित्रवेगने कनकमालानी चिंता)

गाहा :-

सा कह वरई होही नीया नहवाहणेण रुयमाणी ।
जीवइ व नवा इण्ह ददुं मह तारिसमवत्थं? ॥८५॥

संस्कृत छाया :-

सा कथं वराकी भविष्यति नीता नभोवाहनेन रुदन्ती ।
जीवति वा न वा इदानीं दृष्ट्वा मम तादृशमवस्थाम् ॥८५॥

(युग्मम्)

गुजराती अनुवाद :-

त्यारे चित्रवेग कहे छे, हे भद्र! मने बीजुं कंइपण दुःख नथी, मात्र एक ज चिंता मनमां असह्य दुःख पेदा करे छे! मने तेवी अवस्थामां जोइने रुदन करती ते माटी बिचाटी प्राणप्रियाने नभोवाहन लई गयो, तेनी केवी दशा हशे, ते अत्यारे जीवे छे के नही?

हिन्दी अनुवाद :-

तब चित्रवेग कहता है, 'हे भद्रा!' मुझे और कोई दुःख नहीं है, मात्र एक ही चिन्ता मन में असह्य दुःख उत्पन्न करती है। मुझे ऐसी अवस्था में देखकर रुदन

१. तादृशाम्-तादृशीम् अपि भवेत् ।

करती हुई मेरी बेचारी प्राणप्रिया को नभोवाहन ले गया, उसकी कैसी दशा होगी, वह इस समय जीवित है या नहीं?

गाहा :-

एवं च जाव साहइ सो खयरो मज्झ भद्र! धणदेव! ।
एत्थंतरम्मि निसुणसु जो वुत्तंतो तहिं जाओ ॥८६॥

संस्कृत छाया :-

एवञ्च यावत् कथयति स खचरो मम भद्र! धनदेव! ।
अत्रान्तरे निःश्रुणु यो वृत्तान्तस्तत्र जातः ॥८६॥

गुजराती अनुवाद :-

आ प्रमाणे ते विद्याधर मने कहेतो हतो, तेटलाभां हे भद्र! धनदेव!
जे वृत्तांत त्यां घन्यो ते तु सांभळ।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार वह विद्याधर मुझे कहता था, इतने में हे भद्र! धनदेव! वहाँ जो घटना घटी, वह तुम सुनो।

(देवनुं आगमन)

गाहा :-

एक्को कमल-दलऽच्छो पिहुवच्छो सुर-वरो तहिं सहसा ।
ओइन्नो गयणाओ उज्जोइंतो दिसा-वलयं ॥८७॥

संस्कृत छाया :-

एकः कमलदलाऽक्षः पृथुवक्षाः सुरवरस्तत्र सहसा ।
अवतीर्णो गगनादुद्योतमानो दिग्बलयम् ॥८७॥

गुजराती अनुवाद :-

कमलना पत्र सभान नेत्रवालो, विशाल (छाती) वक्षस्थलवालो,
दिग्मंडलने प्रकाशित करतो एक श्रेष्ठ देव आकाशभांथी अचानक नीचे उतर्यो।

हिन्दी अनुवाद :-

कमल के पत्र के समान नेत्रों वाला, विशाल (छाती) वक्षस्थल वाला,
दिग्मंडल को प्रकाशित करता हुआ एक श्रेष्ठ देव आकाश से अचानक नीचे उतरा।

(चित्रवेग द्वारा देवनो विनय)

गाहा :-

दड्डुं समागयं तं वियसिय-वयणो य चित्तवेगो सो ।
अब्भुट्टिऊण पणमइ तं देवं परम-विणएण ॥८८॥

संस्कृत छाया :-

दृष्ट्वा समागतं तं विकसित-वदनश्च चित्रवेगः सः ।
अभ्युत्थाय प्रणमति तं देवं परम-विनयेन ॥८८॥

गुजराती अनुवाद :-

सामे आवतां ते देवने जोइने विकस्वट मुखवालो ते चित्रवेग ऊभो थईने
परम विनय वडे ते देवने प्रणाम कटे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

सामने से आते हुए उस देव को देखकर प्रसन्न मुखवाला वह चित्रवेग खड़ा
होकर अत्यन्त विनय से उस देव को प्रणाम करता है।

गाहा :-

अह सो सुहासणत्थो तियसो संलवइ भद्र! तुह कुसलं? ।
मणिणो य पभावाओ नित्थिन्ना आवया विउला? ॥८९॥

संस्कृत छाया :-

अथ स सुखासनस्थस्त्रिदशः संलपति भद्र! तव कुशलम्? ।
मणेश्च प्रभावान्निस्तीर्णा आपदो विपुलाः? ॥८९॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे ते सुखासनमां रहेलो देव कहे छे, हे भद्र! तुं कुशल छे ने?
दिव्यमणिना प्रभावथी तारी सर्व आपत्तिओ नष्ट थई गई ने?

हिन्दी अनुवाद :-

अब सुखासन में रहा हुआ देव कहता है, हे भद्र! तुम सकुशल तो हो ना?
दिव्यमणि के प्रभाव से तेरी सारी आपत्तियाँ नष्ट हो गई हैं ना?

गाहा :-

तो भणइ चित्तवेगो तुम्ह पभावाओ संपयं कुसलं ।
ता संपइ मह साहसु महंत-कोऊहलं इत्थ ॥९०॥

संस्कृत छाया :-

ततो भणति चित्रवेगस्तव प्रभावात् साम्प्रतं कुशलम् ।

तावत् सम्प्रति मम कथय महा-कुतूहलमत्र ॥१०॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यारे चित्रवेग कहे छे, तारा प्रभावथी हमणां कुशल छुं, परंतु मने अहीं कौतुक छे, तेनो आप हमणां खुलासो करो।

हिन्दी अनुवाद :-

तब चित्रवेग कहता है, तुम्हारे प्रभाव से अभी सकुशल हूँ, परन्तु मुझे यहाँ एक बात का आश्चर्य होता है, उसकी आप स्पष्टता करें।

गाहा :-

पुव्व-भवे संबंधो तुमए सह आसि को ममं देव! ? ।

केण व कज्जेण तुम आसि गओ उच्छुगो तइया? ॥११॥

संस्कृत छाया :-

पूर्वभवे सम्बन्धस्त्वया साहाऽऽसीत् को मम देव !? ।

केन वा कार्येण त्वमासीः गत उत्सुकस्तदा? ॥११॥

गुजराती अनुवाद :-

हे देव! पूर्वभवमां त्माची साथे मारे शु संबंध हतो? वली त्यारे दिव्यमणि आप्या बाद कया कार्यथी उत्सुक सवा तमे गया हता?

हिन्दी अनुवाद :-

हे देव! पूर्वभव में आपके साथ मेरा क्या सम्बन्ध था? और उस समय दिव्यमणि देने के बाद किस कार्य से उत्सुक होकर आप गए थे?

गाहा :-

ततो य भणइ तियसो इमेण कज्जेण आगओ सुयणु! ।

ता एग-मणो होउं साहिष्पंतं निसामेहि ॥१२॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च भणति त्रिदशोऽनेन कार्येणाऽऽगतः सुतनो! ।

स एक-मनो भूत्वा कथ्यमानं निशामय ॥१२॥

गुजराती अनुवाद :-

त्याऱ्छाद देव कहे छे हे सुंदरः! कया कारणथी हुं अहीं आव्यो हतो,
ते कहेवातु एक चित्ते सांभळ।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद देव कहता है, हे सुतनु! मैं किस कारण से यहाँ आया था, वह
मैं कहता हूँ, ध्यान से सुना।

गाहा :-

जंबुद्वीवे इहइं एरवए अत्थि आरिए देसे ।

विजयवई नामेणं नयरी सुर-नयरि-संकासा ॥९३॥

संस्कृत छाया :-

जम्बूद्वीपे इहैरवतेऽस्ति आर्यदेशे ।

विजयवती नाम्ना नगरी सुरनगरी सङ्काशा ॥९३॥

गुजराती अनुवाद :-

आ जंबूद्वीपमां ऐरवत क्षेत्रमां-आर्यदेशे छे, तेमां देवोनी नगरी समान
विजयवती नामनी नगरी छे।

हिन्दी अनुवाद :-

इस जंबूद्वीप में, ऐरावत क्षेत्र में, आर्यदेश है, उसमें देवों की नगरी के समान
विजयवती नामक नगर है—

(धनभूति सार्थवाह)

गाहा :-

तिएवि सुविक्खाओ धणभूई नाम आसि सत्थाहो ।

दक्खिन्न-दया-जुत्तो उज्जुत्तो जइण-धम्मम्मि ॥९४॥

संस्कृत छाया :-

तस्यामपि सुविख्यातो धनभूतिर्नामाऽऽसीत् सार्थवाहः ।

दाक्षिण्य-दया-युक्त उद्युक्तो जैनधर्मे ॥९४॥

गुजराती अनुवाद :-

ते नगरीमां प्रसिद्ध, दाक्षिण्य अने दयाथी युक्त, जैनधर्ममां उद्यमी सवो
धनभूति नामनो सार्थवाह रहेतो हतो।

हिन्दी अनुवाद :-

उस नगरी में प्रसिद्ध, दाक्षिण्य और दया से युक्त, जैनधर्म में उद्यमी धनभूति नामक सार्थवाह रहता था।

गाहा :-

चंदोव्व कला-निलओ गयव्व निच्चं पयट्ट-वर दाणो ।
अणुयत्तिय-मित्तो वासरोव्व बुह-लोय-मण-इट्ठो ॥१५॥

संस्कृत छाया :-

चन्द्र इव कला-निलयो गज इव नित्यं प्रवृत्त-वरदानः ।
१ अनुवर्तितमित्रो वासर इव बुधलोक-मन-इष्टः ॥१५॥

गुजराती अनुवाद :-

ते सार्थवाह चंद्रनी जेम कलानो निधान, हाथीनी जेम हमेशा (दान-मद) दान देवाभांतत्पर, हमेशां दिवसनी जेम मित्र (सूर्य) नो सत्कार करनाट तथा पण्डितोने आदरणीय हतो। (पण्डितोना मनमां जेने स्थान छे तेवो)

हिन्दी अनुवाद :-

वह सार्थवाह चन्द्रमा के समान कला का निधान, हाथी के समान (दान-मद) देने में तत्पर, हमेशा दिन के समान मित्र (सूर्य) का सत्कार करनेवाला तथा पण्डितों का आदरणीय था। (पण्डितों के मन में जिसका स्थान है, वैसा।)

गाहा :-

तस्स य पसंत-रूवा पइ-व्वया सच्च-सील-दय-जुत्ता ।
भज्जा सुंदर-देहा सुंदरि-नामा सुविक्खाया ।.१६॥

संस्कृत छाया :-

तस्य च प्रशान्तरूपा पतिव्रता सत्यशीलदया युक्ता ।
भार्या सुन्दर देहा सुन्दरी-नाम्नी सुविख्याता ॥१६॥

गुजराती अनुवाद :-

अने तेने प्रशांत रूप वाली, पतिव्रता, सत्यशील तथा दया-युक्त, सुंदर देहवाली, घणी प्रख्यात सुंदरी नामनी स्त्री हती।

हिन्दी अनुवाद :-

और उसे प्रशान्त रूपवाली पतिव्रता, सत्यशील तथा दयायुक्त, सुन्दर शरीरवाली, अत्यन्त प्रसिद्ध, सुन्दरी नाम की स्त्री थी।

१. अनुवर्तित-सत्कृतमित्र ।

गाहा :-

विमलं सावग-धम्मं सम्मं अह ताण पालयंताणं ।
वच्चंति वासराइं सुसाहु-जण-भत्ति-जुत्ताणं ॥९७॥

संस्कृत छाया :-

विमलं श्रावकधर्मं सम्यगथ तयोः पालयतोः ।
ब्रजन्ति वासराणि सुसाधुजन-भक्तियुक्तयोः ॥९७॥

गुजराती अनुवाद :-

निर्मल श्रावकधर्मनुं सारी रीते पालन करतां तथा श्रेष्ठ साधु भगवंतीनी
भक्ति करतां ते चब्रेना दिवसो पसार थता हता ।

हिन्दी अनुवाद :-

निर्मल श्रावकधर्म का भली-भांति पालन करते हुए तथा श्रेष्ठ साधु भगवन्तों
की भक्ति करते हुए उन दोनों के दिन व्यतीत हो रहे थे।

गाहा :-

अह अन्नया कयाइवि पहाण-सुविणेहिं सुइयं तणयं ।
सा सुंदरी पसूया पभूय-सुह-लक्खणाइन्नं ॥९८॥

संस्कृत छाया :-

अथान्यदा कदाचिदपि प्रधान-स्वप्नैः सूचितं तनयम् ।
सा सुन्दरी प्रसूता प्रभूत-शुभ-लक्षणाऽऽकीर्णम् ॥९८॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे कोई वखत ते सुंदरीर श्रेष्ठ स्वप्नो वडे सूचित, घणां शुभ लक्षणोथी
युक्त पुत्रने जन्म आप्यो।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार किसी समय उस सुन्दरी ने श्रेष्ठ स्वप्नों के द्वारा सूचित, अनेक
शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र को जन्म दिया।

गाहा :-

निज्जिय-अणंग-रुवं तेण य दिणयरस्स सारिच्छं ।
सोमं ससि-बिंबं पिव जिणिंद-धम्मं व सुह-जणयं ॥९९॥

संस्कृत छाया :-

निर्जीताऽनङ्गरूपं तेजसा च दिनकरस्य सदृक्षम् ।

सौम्यं शशिबिम्बमिव जिनेन्द्र-धर्म-मिव सुखजनकम् ॥९९॥

गुजराती अनुवाद :-

ते पुत्र कामदेवथी अधिक रूपवान, तेज वडे सूर्य समान, चंद्रमा खिंचनी जेम मनोहर, अे जैन धर्मनीं जेम सुखने उत्पन्न करजाये हतो।

हिन्दी अनुवाद :-

वह पुत्र कामदेव से भी अधिक रूपवान, तेज में सूर्य के समान, चन्द्रमा के बिम्ब के समान मनोहर तथा जैनधर्म के समान सुख को उत्पन्न करनेवाला था।

(मोटा पुत्र सुधर्मनो जन्म)

गाहा :-

अन्नं च

अह तस्स बारसाहे वोलीणे नियय-जणणि-जणएहिं ।

गरुय-पमोएण कयं विहिणा नामं सुधम्मोत्ति ॥१००॥

संस्कृत छाया :-

अन्यच्च

अथ तस्य द्वादशाह्नि गते निजकजननीजनकाभ्याम् ।

गुरुकप्रमोदेन कृतं विधिना नाम सुधर्म इति ॥१००॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे चार दिवस पूर्ण थये छते माता-पिता वडे अत्यंत आनंदपूर्वक विधि वडे 'सुधर्म' स प्रमाणे तेनु नाम रखायुं।

हिन्दी अनुवाद :-

बारह दिन पूरा होने के बाद माता-पिता के द्वारा अत्यन्त आनन्द से विधिपूर्वक उसका 'सुधर्म' नामकरण किया गया।

(धनवाहननो जन्म)

गाहा :-

घणवाहणाभिहाणो बीओ कालेण से सुओ जाओ ।

सोवि हु सुधम्म-नामो जाओ अह अट्ट-वारिसओ ॥१०१॥

संस्कृत छाया :-

धनवाहनाभिधानो द्वितीयः कालेन तस्याः सुतो जातः ।

सोऽपि खलु सुधर्म-नामा जातोऽथाष्टवार्षिकः ॥१०१॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यारुचाद थोडा समय पछी ते दंपतीने धनवाहन नामनो बीजो पुत्र थयो,
आ चाजु 'सुधर्म' पण आठ वर्षनो थयो।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके कुछ दिनों के बाद उस दम्पति ने धनवाहन नामक दूसरे पुत्र को जन्म दिया, इधर सुधर्म भी आठ वर्ष का हो गया था।

(सुदर्शनाचार्यनुं पदार्पण)

गाहा :-

तीए य पुर-वरीए विहरंतो अन्नया समयरिओ ।

समण-सय-सेविय-कमो सुदंसणो नाम आयरिओ ॥१०२॥

संस्कृत छाया :-

तस्याञ्च पुरवर्या विहरन्नन्यदा समवतीर्णः ।

श्रमण-शत-सेवित-क्रमः सुदर्शनो नामाऽऽचार्यः ॥१०२॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे क्केई वखत ते नगरीमां विहार करतां सैंकडों साधुभगवंतोथी
सेवाता चरण कमलवाला 'सुदर्शन' नामना आचार्य भगवंत पधार्या।

हिन्दी अनुवाद :-

फिर किसी समय उस नगर में विहार करते हुए सैकड़ों साधु भगवन्तों के द्वारा सेवित चरणकमल वाले 'सुदर्शन' नामक आचार्य भगवन्त पधारे।

गाहा :-

अप्पडिबद्ध-विहारी चउदस-पुव्वी गुणाण आवासो ।

पुव्वुत्तर-दिसि-भाए अवट्ठिओ नंदणुज्जाणे ॥१०३॥

संस्कृत छाया :-

अप्रतिबद्धविहारी चतुर्दशपूर्वी गुणानामावासः ।

पूर्वोत्तर-दिग्भागेऽवस्थितो नन्दनोद्याने ॥१०३॥

गुजराती अनुवाद :-

एग-द्वेष रहित अप्रतिबद्धविहारी, चतुर्दशपूर्वना ज्ञाता गुणोनां स्थानरूप
पूज्य आचार्य भगवंत पूर्व अने उत्तर दिशानां मध्य भागमां इशान खूणां
नंदन नामना उद्यानमां रद्यां ।

हिन्दी अनुवाद :-

अप्रतिबद्ध विहारी, चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता, गुणों के स्थानरूप, पूज्य आचार्य
भगवन्त पूर्व और उत्तर दिशा के मध्य में ईशान कोण में नन्दन नामक उद्यान में
रुके।

(धनभूति सार्थवाहनं वंदनार्थं गमन)

गाहा :-

सव्वोवि नयर-लोओ विणिग्गओ सूरि-वंदण-निमित्तं ।
धणभूर्इवि हु चलिओ भत्तीए तणय-संजुत्तो ॥१०४॥

संस्कृत छाया :-

सर्वोऽपि नगरलोको विनिर्गतःसूरिवन्दन-निमित्तम् ।
धनभूतिरपि खलु चलितो भक्त्या तनयसंयुक्तः ॥१०४॥

गुजराती अनुवाद :-

सर्व नगरवासी लोको आचार्य भगवंतनां वंदन माटे बहार नीकल्या,
पुत्र सहित धनभूति पण भक्ति वडे (वंदन करवा) चाल्यो।

हिन्दी अनुवाद :-

समस्त नगरवासी आचार्य भगवन्त को वन्दन करने के लिए बाहर निकले,
पुत्रसहित धनभूति भी भक्तिपूर्वक (वन्दन करने) चल पड़ा।

गाहा :-

उम्मुक्क-वाहणो अह दुराओ विहिय-उत्तरासंगो ।
ति पयक्खिण्णिऊण गुरुं वंदइ परमाए भत्तिए ॥१०५॥

संस्कृत छाया :-

उन्मुक्तवाहनोऽथ दूराद् विहितोत्तरीयासङ्गः ।
त्रिः प्रदक्षिण्य गुरुं वन्दते परमया भक्त्या ॥१०५॥

गुजराती अनुवाद :-

दूरथी वाहन मूकीने, उत्तरासंग (खेस) करीने, त्रण प्रदक्षिणा आपीने परम भक्ति वडे तेणे गुरु भगवंतने वंदन कर्युं।

हिन्दी अनुवाद :-

दूर से ही वाहन छोड़कर, उत्तरासंग (चादर) धारण कर, तीन प्रदक्षिणा करके परम भक्ति के द्वारा उसने गुरु भगवन्त को वन्दन किया।

(सूरि द्वारा धर्मकथा)

गाहा :-

भीम-भवोयहि-निवडंत-जंतु-संतरण-वर-तरंडम्मि ।
दिन्नम्मि धम्मलाभे गुरुणा, सेसे मुणी नमिउं ॥१०६॥
उवविट्ठो सत्थाहो भहि-वट्ठे पुर-जणेण संजुत्तो ।
सूरीवि मोक्ख-मगं जिण-धम्मं कहिउमाढत्तो ॥१०७॥
(युग्मम्)

संस्कृत छाया :-

भीमभवोदधि-निपतङ्गु-संतरण-वर-तरण्डे ।
दत्ते धर्मलाभे गुरुणा शेषान् मुनीन् नत्वा ॥१०६॥
उपविष्टः सार्थवाहो महीपृष्ठे पुरजनेन संयुक्तः ।
सूरिरपि मोक्षमार्गं जिनधर्मं कथयितुमारब्धः ॥१०७॥ युग्मम्)

गुजराती अनुवाद :-

अयंकट संसार-सागरमां डूबता प्राणीओने तारवामां श्रेष्ठ नौका समान धर्मलाभ गुरु भगवंते आप्यो त्यारे ते सार्थवाह अन्य मुनि भगवंतोने नमस्कार करीने-नगरजन साथे भूमिपीठ उपर बैठो, आचार्य भगवंते पण मोक्षमार्गरूप जिनेश्वर भगवंते कहेल धर्म कहेवानो प्रारंभ कर्यो।

हिन्दी अनुवाद :-

भयंकर संसार-सागर में डूबते हुए प्राणियों को उबारने में श्रेष्ठ नौका के समान गुरु भगवन्त ने धर्मलाभ दिया, तब सार्थवाह अन्य मुनि भगवन्तों को नमस्कार करके नगरजन के साथ भूमि पर बैठा। आचार्य भगवन्त ने मोक्षमार्गरूप जिनेश्वर भगवन्त के द्वारा कथित धर्म को कहना प्रारम्भ किया।

(सम्यग्दर्शन-मूल)

गाहा :-

अवि य

सम्म-इंसण-मूलो पंच-महव्वय-महल्ल-दढ-खंधो ।

समिई-गुत्ती-तव-संजमाइ-साहा-पसाहिल्लो ॥१०८॥

विविहाभिग्गह-गोच्छो मणहर-सीलंग-पत्त-सोहिल्लो ।

वर-लब्धि-कुसुम-कलिओ सग्ग-ऽपवग्गाइ-सुह-फलओ ॥१०९॥

चारित्त-कप्प-रुक्खो वित्थरओ साहिओ जिणाणाए ।

दुह-ताव-तावियाण जियाण सरणं अणन्न-समं ॥११०॥

(चारित्र कल्पवृक्ष)

संस्कृत छाया :-

अपि च

सम्यग्दर्शनमूलः पञ्चमहाव्रतमहा-दृढस्कन्धः ।

समिति-गुप्ति-तपःसंयमादि-शाखा-प्रशाखावान् ॥१०८॥

विविधाभिग्रह-गुच्छो मनोहर-शीलाङ्गपत्रशोभावान् ।

वरलब्धि-कुसुमकलितः स्वर्गापवर्गादिसुखफलदः ॥१०९॥

चारित्रकल्पवृक्षो विस्तरतः कथितो जिनाज्ञया ।

दुःखतापतप्तानां जीवानां शरणमनन्यसमम् ॥११०॥ त्रिभिः कुलकम्

गुजराती अनुवाद :-

ते आ प्रणाणे-सम्यग् दर्शन जेतु मूल छे— पांच महाव्रत रूप मोटो अने दृढ जेनो स्कन्ध छे, समिति-गुप्ति-तप-अने संयम विगेटे जेनी शाखा-प्रशाखा छे। विविध अभिग्रहरूप जेना गुच्छ छे, मनोहर (आचार) शीलांग रूप पत्रोथी जे शोभे चे, श्रेष्ठ लब्धिरूप पुष्पोथी जे रमणीय छे, स्वर्ग अने मोक्ष विगेटे जेना अनन्य सुखरूपी फल छे। तीव्र दुःखरूपी तप्त प्राणीओने अनन्य शरणरूप खो कल्पवृक्ष समान चाटिब्रधर्म जिनाज्ञा वडे विस्तारपूर्वक कहेवायो।

हिन्दी अनुवाद :-

वह इस प्रकार सम्यक् दर्शन जिसका मूल है— पाँच महाव्रतरूपी विशाल और दृढ़ जिसका स्कन्ध है, समिति-गुप्ति-तप तथा संयम आदि जिसकी शाखा-प्रशाखा हैं, विविध अभिग्रहरूप जिसके गुच्छे हैं, मनोहर (आचार) शीलांगरूपी

पत्रों से जो सुशोभित है, श्रेष्ठ लब्धिरूपी पुष्पों से जो रमणीय प्रतीत होता है, स्वर्ग और मोक्ष आदि जिसके अनन्य सुखरूपी फल हैं, तीव्र दुःखरूपी ताप से तप्त प्राणियों के अनन्य शरणरूप कल्पवृक्ष के समान चारित्रधर्म जिनाज्ञा के द्वारा विस्तारपूर्वक कहा गया।

गाथा :-

चवलाइं इंदियाइं दुक्ख-निमित्तं च विसय-संगोवि ।
कोहाइणो कसाया निबन्धणं दोग्गईए उ ॥१११॥

संस्कृत छाया :-

चपलानि इन्द्रियाणि दुःखनिमित्तं च विषयसङ्गोऽपि ।
क्रोधादयः कषाया निबन्धनं दुर्गतिस्तु ॥१११॥

गुजराती अनुवाद :-

इन्द्रियो चंचल छे, विषयोनो संग पण दुःखना कारणरूप छे अने क्रोध विगेरे कषायो दुर्गतिनुं कारण छे।

हिन्दी अनुवाद :-

इन्द्रियाँ चंचल हैं, विषयों की आसक्ति भी दुःखों का कारणरूप है तथा क्रोध आदि कषाय दुर्गति के कारण हैं।

(प्रमाद थी पतन)

गाथा :-

एक्कसि कओ पमाओ जीवं पाडेइ भव-समुद्दम्मि ।
भीमो य भवो बहुसो पयासिओ तिए परिसाए ॥११२॥

संस्कृत छाया :-

सकृत् कृतः प्रमादो जीवं पातयति भवसमुद्रे ।
भीमश्च भवो बहुशः प्रकाशितस्तस्यां परिषदि ॥११२॥

गुजराती अनुवाद :-

सकवार पण करायेलो प्रमाद जीवने भवसमुद्दमां पाडे छे। सम बहु प्रकारे भयंकट संसारनुं स्वरूप सूरीश्वरजीर ते सभामां प्रकाशित कर्युं।

हिन्दी अनुवाद :-

एक बार भी किया गया प्रमाद जीव को भवसागर में डाल देता है। इस प्रकार इस संसार के भयंकर स्वरूप को सूरीश्वरजी ने अनेक प्रकार से सभा में प्रकाशित किया।

गाहा :-

सूरिस्स तस्स वयणं परमामय-सच्छहं निसामित्ता ।
संविग्गा सा परिसा जहागयं पडिगया सव्वा ॥११३॥

संस्कृत छाया :-

सूरेस्तस्य वचनं परमामृत-सदृशं निशमय्य ।
संविज्ञा सा परिषद् यथाऽऽगतं प्रतिगता सर्वा ॥११३॥

गुजराती अनुवाद :-

पद्यम् अमृत समान ते सूटिजीनां वचन सांभलीने वैराग्य पाभेली सभा
(परिषदजनो) जे चीते आवी हती ते चीते पाछी फटी।

हिन्दी अनुवाद :-

परम अमृत के समान उस सूरिजी के वचनों को सुनकर वैराग्य को प्राप्त
सभा (परिषदजन) जिस प्रकार वहाँ आई थी, उसी प्रकार वापस लौट गई।

(सुधर्मने प्रतिबोध)

गाहा :-

सोऊण सुधम्म-नामो धम्म-मई गुरु-गिरं निसामित्ता ।
संसार-भउव्विग्गो पणमिय सूरि इमं भणइ ॥११४॥

संस्कृत छाया :-

श्रुत्वा सुधर्मनामा धर्ममतिर्गुरुगिरं निशमय्य ।
संसारभयोद्विग्नः प्रणम्य सूरिमिदं भणति ॥११४॥

गुजराती अनुवाद :-

धर्ममां बुद्धिवालो सुधर्म नामनो श्रेष्ठिपुत्र गुरु भगवंतनी वाणीनुं श्रवण
करीने संसारना भयथी उद्विग्न थयेलो, आचार्य भगवंतने प्रमाण कटी आ
प्रमाणे कहे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

धर्म में बुद्धिवाले सुधर्म नामक श्रेष्ठिपुत्र ने गुरुभगवन्त की वाणी का श्रवण
कर संसार के भय से उद्विग्न हुआ और आचार्य भगवन्त को प्रणाम कर इस प्रकार
कहा।

गाहा :-

इच्छामि तुम्ह मूले निरवज्जं गिण्हउं सुपव्वज्जं ।

जणगेहिं अणुज्जाओ भीओ जर-जम्म-मरणाणं ॥११५॥

संस्कृत छाया :-

इच्छामि तव मूले निरवघां ग्रहीतुं सुप्रब्रज्याम् ।

जनकाभ्या-मनुज्ञातो भीतो जराजन्ममरणेभ्यः ॥११५॥

गुजराती अनुवाद :-

हे गुरुवर! जन्म-जरा-मरणथी डरेलो, हुं माता-पिताकी आज्ञा-पूर्वक
आपना चरण-कमलमां निर्दोष दीक्षा (निरवघ प्रब्रज्या) ग्रहण करवा इच्छुं छुं।

हिन्दी अनुवाद :-

हे गुरुवर! जन्म-जरा-मृत्यु से भयभीत, मैं माता-पिता की आज्ञापूर्वक आपके
चरण कमल में निर्दोष दीक्षा (निरवघ प्रब्रज्या) ग्रहण करना चाहता हूँ।

गाहा :-

भणियं गुरुणा य तओ होउ अविग्घं तुहेत्थ वत्थुम्मि ।

अम्मा-पिऊहिं मुक्को अह सो पव्वाविओ गुरुणा ॥११६॥

संस्कृत छाया :-

भणितं गुरुणा ततो भवत्वविघ्नं तवात्र वस्तुनि ।

अम्बा-पितृभ्यां मुक्तोऽथ सः प्रव्राजितो गुरुणा ॥११६॥

(सुधर्मने दीक्षा)

गुजराती अनुवाद :-

त्यारे गुरुभगवंते कहुं आ विषयमां तु विघ्नरहित चन, त्यारबाद माता-
पिताथी अनुज्ञा पामेला तेने गुरु भगवंत वडे दीक्षा अपाई।

हिन्दी अनुवाद :-

तब गुरु भगवन्त ने कहा 'इस विषय में तुम निर्विघ्न हो जाओ, उसके बाद
माता-पिता की आज्ञा प्राप्त होने पर उसे गुरु भगवन्त के द्वारा दीक्षा प्रदान की गई।

गाहा :-

अब्भसिय-दुविह-सिक्खो संजम-तव-विणय-करण-उज्जुत्तो ।

विहिणा गुरु-पामूले अहिज्जिउं सो समाढत्तो ॥११७॥

संस्कृत छाया :-

अभ्यसित द्विविधशिक्षः संयमतपोविनयकरणोद्युक्तः ।

विधिना गुरुपादमूलेऽध्येतुं स समारब्धः ॥११७

गुजराती अनुवाद :-

ग्रहण अने आसेवन रम छे प्रकारे शिक्षा प्राप्त कटी संयम-तप अे विनय कटवामां उद्यमी ते मुनिस गुरु भगवंतना चरण-कमलमां विधिपूर्वक अभ्यास प्रारंभ कर्यो।

हिन्दी अनुवाद :-

ग्रहण और आसेवन दो प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर संयम-तप तथा विनय करने में उद्यमी उस मुनि ने गुरु भगवन्त के चरण कमल में विधिपूर्वक अभ्यास प्रारम्भ किया।

(चौदपूर्वना ज्ञाता सुधर्म)

गाहा :-

सिग्धं महा-मई सो जाओ सुत्तत्थ-तदुभय-विहिञ्च ।

चुद्दस-पुव्वी गुरु-साहु-सम्मओ गुण-गणावासो ॥११८॥

संस्कृत छाया :-

शीघ्रं महामतिः स जातः सुत्रार्थतदुभयविधिज्ञः ।

चतुर्दशपूर्वी गुरुसाधु-सम्मतो गुणगणावासः ॥११८॥

गुजराती अनुवाद :-

बुद्धिमान ते मुनिवर सूत्र-अर्थ अने चहनेनी (तदुभयनी) विधिना शीघ्र ज्ञाता थया तथा चौद (चतुर्दश) पूर्वना ज्ञाता, गुरु तथा साधुओंने मान्य तथा गुणोना समुदायनां स्थानरूप थया।

हिन्दी अनुवाद :-

उस बुद्धिमान मुनिवर ने सूत्र-अर्थ तथा दोनों (तदुभय) की विधि के शीघ्र ज्ञाता हुए तथा चौदह (चतुर्दश) पूर्व के ज्ञाता, गुरु तथा साधुओं के द्वारा मान्य और गुणों के समुदायरूप हुए।

(सुधर्म मुनिने आचार्यपद)

गाहा :-

नाऊण जोगयं से सुह-रिक्खे सूरिणा निय-पयमी ।

अहिसित्तो सूरिवि य संलिहिय-तणू गओ मोक्खं ॥१११॥

संस्कृत छाया :-

ज्ञात्वा योग्यतां स शुभर्क्षे सूरिणा निजपदे ।

अभिसिक्तः सूरिरपि च सर्ल्लिखिततनुर्गतो मोक्षम् ॥१११॥

गुजराती अनुवाद :-

आचार्य भगवन्ते सुधर्ममुनिनी योग्यता जाणीने शुभ नक्षत्रमां (मुहूर्तमां) पोतानां पद पर (स्थानमां) तेम्ने स्थापन कर्या, अने त्यारच्चाद सूरिराज पण संलेखना करी मोक्षे सिधाव्या।

हिन्दी अनुवाद :-

आचार्य भगवन्त ने सुधर्म मुनि की योग्यता को जानकर शुभ नक्षत्र (मुहूर्त) में अपने पद (स्थान) पर उसे स्थापित किया। उसके बाद सूरिराज भी संलेखना कर मोक्ष को प्राप्त हुए।

(धर्म प्रतिबोध करता सुधर्मसूरि)

गाहा :-

समण-गण-संपरिवुडो सुहम्म-सूरीवि विविह-देसेसु ।

बोहिनो भविय-जणं विहरइ पुर-गाम-नगरेसु ॥१२०॥

संस्कृत छाया :-

श्रमणगण सम्परिवृतः सुधर्मसूरिरपि विविधदेशेषु ।

बोधयन् भविकजनं विहरति पुरग्रामनगरेषु ॥१२०॥

गुजराती अनुवाद :-

मुनिवृन्दथी परिवरैला श्री सुधर्मसूरि पण विविध देशोमां भव्य प्राणीओने बोध पमाडतां पुर-ग्राम तथा नगरमां विहार करवा लाग्या।

हिन्दी अनुवाद :-

मुनिवृन्द से परिवृत श्री सुधर्मसूरि भी विविध देशों में भव्य प्राणियों को बोध देते हुए ग्राम तथा नगर में विहार करने लगे।

(धनवाहननुं अनङ्गवती साथे पाणिग्रहण)

गाहा :-

धणवाहणोवि कमसो वङ्कतो पंच-धाइ-परियरिओ ।
पत्तो कुमार-भावं अहिज्जिओ तह कला-निवहं ॥१२१॥

संस्कृत छाया :-

धनवाहनोऽपि क्रमशो वर्धमानः पञ्चधात्री-परिकरितः ।
प्राप्तकुमारभावमधीतस्तथा कलानिवहम् ॥१२१॥

गुजराती अनुवाद :-

पांच धावमाताथी पालन करतो, क्रमशः वढतो सवो धनवाहन पण
कुमारभावने पाव्यो तथा सर्व कलाओमां निपुण थयो।

हिन्दी अनुवाद :-

पाँच धाय माताओं के द्वारा पालन कराता हुआ, क्रमशः बढ़ता हुआ
धनवाहनकुमार भी कुमार भाव को प्राप्त किया तथा सर्व कलाओं में निपुण हुआ।

गाहा :-

पत्तो य जोव्वणं सो कामिणि-जण-हियय-चोरण-समत्थं ।
पिउणा य तन्निमित्तं वरिया वर-रुव-संपन्ना ॥१२२॥

संस्कृत छाया :-

प्राप्तश्च यौवनं स कामिनीजनहृदय-चोरणसमर्थम् ।
पित्रा च तन्निमित्तं वर्या वररूपसम्पन्ना ॥१२२॥

गुजराती अनुवाद :-

अनुक्रमे तेणे कामिनीओनां हृदयने हरण करवामां समर्थ सवा यौवनने
प्राप्त कर्युं, अने पिता वडे तेना माटे श्रेष्ठरूपथी युक्त कन्या वराइ।

हिन्दी अनुवाद :-

क्रमशः कामिनियों के हृदय को हरण करने में समर्थ ऐसी युवावस्था को प्राप्त
किए हुए, उसके लिए पिता के द्वारा श्रेष्ठ रूप से युक्त कन्या का वरण किया गया।

गाहा :-

सिरि-सुप्पइट्ट-नयरे धूया हरिदत्त-पवर-इब्भस्स ।
विणयवई-संभूयाऽणंगवई नाम वर-कन्ना ॥१२३॥

महया विच्छेद्रेणं परिणीया सोहणम्मि सा लग्गे ।

धणवाहणेण तत्तो आणीया नियय-नयरीए ॥१२४॥ (युग्मम्)

संस्कृत छाया :-

श्री सुप्रतिष्ठनगरे दुहिता हरिदत्तप्रवरेभ्यस्य ।

विनयवती-संभूताऽनङ्गीवती नाम वरकन्या ॥१२३॥

महता विच्छेदेन परिणीता शोभने सा लग्ने ।

धनवाहनेन तत आनीता निजकनगर्याम् ॥१२४॥ (युग्मम्)

गुजराती अनुवाद :-

सुप्रतिष्ठ नगरमां हरिदत्तश्रेष्ठिनी विनयवती स्त्रीथी उत्पन्न थयेली अनंगवती नामनी श्रेष्ठ कन्याने- मोटा आडंबर वडे, श्रेष्ठ लग्नामां धनवाहन तेणीने परण्यो अने त्यारछाद पोतानी नगरीमां (तेने) लाव्यो।

हिन्दी अनुवाद :-

सुप्रतिष्ठ नगर में हरिदत्त श्रेष्ठ की विनयवती स्त्री से उत्पन्न अनंगवती नाम की श्रेष्ठ कन्या को- विशाल आडंबर से युक्त, श्रेष्ठ लग्न में धनवाहन ने उसके साथ विवाह किया और उसके बाद (उसे) अपनी नगरी में लाया।

गाहा :-

अह सो तीए रत्तो जोव्वण-वर-रूव-सोउमल्लेसु ।

गाढं विसयासत्तो गयंपि कालं न याणाइ ॥१२५॥

संस्कृत छाया :-

अथ स तस्यां रत्तो यौवनवररूप-सौकुमार्येषु ।

गाढं विषयासक्तो गतमपि कालं न जानाति ॥१२५॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे ते धनवाहन तेणीना यौवन अने श्रेष्ठरूप तथा सुकुमारतमां मुग्ध बनेलो अत्यंत विषयमां आसक्त थयेलो पसार थतां सम्ययने पण जाणतो नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

अब वह धनवाहन उसके यौवन और श्रेष्ठ रूप तथा कोमलता में मुग्ध बना हुआ विषय में अत्यन्त आसक्त हुआ व्यतीत होने वाले समय को भी नहीं जानता था।

(विजयवती नगरीमां सुधर्माचार्यनो प्रवेश)

गाहा :-

अह अन्नया सुधम्मो विहरंतो मुणि-वरो तहिं पत्तो ।
विदयवई-नयरीए वासा-रत्तस्स पारंभे ॥१२६॥

संस्कृत छाया :-

अथान्यदा सुधर्मो विहरन् मुनिवरस्तत्र प्राप्तः ।
विजयवती नगर्या वर्षारात्रस्य प्रारम्भे ॥१२६॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे कोई वखत सुधर्मसूरिजी विहार करतां विजयवती नगरीमां
वर्षाऋतुनां प्रादंभमां पधार्या।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद किसी समय सुधर्मसूरिजी विहार करते हुए विजयवती नगरी में
वर्षाऋतु में पधारे।

(धनभूति द्वारा वसति प्रदान)

गाहा :-

साहूहिं तत्थ वसही विमग्गिया ताहि सत्थवाहेण।
धणभूइणा विदिन्ना सुविसुद्धा जाण-सालासु ॥१२७॥

संस्कृत छाया :-

साधुभिस्तत्र वसतिर्विमार्गिता तदा सार्थवाहेन ।
धनभूतिना वितीर्णा सुविशुद्धा यानशालाषु ॥१२७॥

गुजराती अनुवाद :-

साधु भवगंतोस त्यां वसतिनी याचना करी, त्यारे धनभूति सार्थवाह
वडे वाहनशालामां सुविशुद्ध वसति अपाई।

हिन्दी अनुवाद :-

साधु भगवन्तो ने वहाँ ठहरने के लिए स्थान मांगा, तब धनभूति सार्थवाह
ने वाहनशाला में शुद्ध स्थान की व्यवस्था की।

(धनभूति सार्थवाहनं आगमन)

गाहा :-

निय-परियणेण सहिओ सत्थाहो एइ गुरु-समीवम्मि ।
सामाइयाइ-जुत्तो संविग्गो सुणइ जिण-धम्मं ॥१२८॥

संस्कृत छाया :-

निजपरिजनेन सहितः सार्थवाह ऐति गुरुसमीपे ।
सामायिकादियुक्तः संविज्ञः शृणोति जिनधर्मम् ॥१२८॥

गुजराती अनुवाद :-

पोताना परिवार सहित सार्थवाह गुरुभगवंत पासो आवे छे, अने सामायिकादिमां रहेलो, संविज्ञ खो (धनभूति) जैन धर्मनां सिद्धांतनुं श्रवण करे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

अपने परिवार के साथ सार्थवाह गुरु भगवन्त के पास आता है और सामायिक आदि में स्थित, संविज्ञ (धनभूति) जैनधर्म के सिद्धान्त का श्रवण करता है।

(धनवाहन विषयासक्त)

गाहा :-

धणवाहणो उ दइया-सुरय-सुहासत्त-माणसो धणियं ।
पिउणा भणिओवि दढं न ए (हो?)इ गुरुवंदओ कह वि ॥१२९॥

संस्कृत छाया :-

धनवाहनस्तु दयिता-सुरत-सुखासक्त-मानसो गाढं ।
पित्रा भणितोऽपि दढं नैति (न भवति) गुरुवन्दकः कथमपि ॥१२९॥

गुजराती अनुवाद :-

स्त्री साथे रति क्रीडामां आसक्त धनवाहन पिता वडे घणुं ज कहेवा छतां गुरुवंदन माटे क्यारेय जतो नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

स्त्री के साथ रति क्रीड़ा में आसक्त धनवाहन पिता के द्वारा बहुत कहने पर भी गुरुवन्दन के लिए कभी नहीं जाता था।

गाहा :-

अह तं विसयासत्तं गुरु-रागं धम्म-करण-निरवेक्खं ।
परिचत्त-सेस-कज्जं दड्ढं लहु-भायरं गुरुणो ॥१३०॥

(सुधर्मसूरिने चिंता)

जाया एसा चिंता भाया मे राग-मोहिओ वरओ ।
जिण-वयण-बाहिर-मई इंदिय-विसएसु आसत्तो ॥१३१॥
दुल्लहमवि मणुयत्तं पावित्ता धम्म-विरहिओ एसो ।
गच्छिस्सइ नरयम्मि घोरासु य तिरिय-जोणीसु ॥१३२॥

संस्कृत छाया :-

अथ तं विषयाऽऽसक्तं गुरुरागं धर्मकरण-निरपेक्षम् ।
परित्यक्त-शेषकार्यं दृष्ट्वा लघुभ्रातरं गुरोः ॥१३०॥
जाता एषा चिन्ता भ्राता मे राग-मोहितो वराकः
जिनवचन-बहिर्मति रिन्द्रिय-विषयेष्वासक्तः ॥१३१॥
दुर्लभमपि मनुजत्वं प्राप्य धर्म-विरहित एषः ।
गमिष्यति नरके घोराषु च तिर्यक्-योनिषु ॥१३२॥ त्रिभिः कुलकम्

गुजराती अनुवाद :-

विषयमां आसक्त-अत्यंत रागी, धर्मकार्यमां निरपेक्ष-अन्य कार्योथी विमुक्त पोताना नाना भाईने जोइने मोटाभाईने-चिंता थइ के आ मारो भाई रागथी मूढ जिन-वचनथी चाह्य बुद्धिवाळो (श्रद्धारहित), इन्द्रियना विषयोमां आसक्त छिचारो दुर्लभ सवा मनुष्यत्वने पाभीने पण धर्मरहित आ घोरे नरकमां तथा तिर्यचगतिमां जशे।

हिन्दी अनुवाद :-

विषय में आसक्त, अत्यन्त रागी, धर्मकार्य में निरपेक्ष, अन्य कार्यो से विमुक्त अपने छोटे भाई को देखकर बड़े भाई को चिन्ता हुई कि 'मेरा यह भाई राग से मूढ़ जिन-वचन से बाह्य बुद्धिवाला (श्रद्धारहित), इन्द्रिय के विषयों में आसक्त बेचारा इस दुर्लभ मनुष्यत्व को प्राप्त कर भी धर्मरहित यह घोर नरक में तथा तिर्यचगति में जाएगा।

(गुरुद्वारा नाना भाईने बोलाववुं)

गाहा :-

केणावि उवाएणं बोहेमी राग-मोहियं एयं ।

एवं विचिंतिऊणं गुरुणा सहाविओ भाया ॥१३३॥

संस्कृत छाया :-

केनापि उपायेन बोधयामि राग-मोहितमेनम् ।

एवं विचिन्त्य गुरुणा शब्दापितो भ्राता ॥१३३॥

गुजराती अनुवाद :-

कोइपण उपाय वडे रागमां मोहित आने सम्भजावुं सम् विचारीने गुरु वडे संसारी भाई बोलावायो।

हिन्दी अनुवाद :-

किसी भी उपाय के द्वारा राग में मोहित इसे समझाऊँ, यह विचार कर गुरु के द्वारा संसारी भाई को बुलवाया गया।

(धनवाहननुं आगमन)

गाहा :-

महया उवरोहेणं समागओ वंदिऊण तो सूरिं ।

अवविट्ठो से पुरओ अह सूरी भणिउमाढत्तो ॥१३४॥

संस्कृत छाया :-

महतोपरोधेन समागतो, वन्दित्वा ततः सूरिम् ।

उपविष्टस्तस्य पुरतोऽथ सूरिर्भणितुमारब्धः ॥१३४॥

गुजराती अनुवाद :-

खूब आग्रह वडे ते आव्यो, त्यारछाद सूरिभगवंतने वंदन करीने तेमनी पास्रे बेठो, त्यारे सूरिसि कहैवानो प्रांभ कर्यो।

हिन्दी अनुवाद :-

बहुत आग्रह करने पर वह आया, उसके बाद सूरि भगवन्त को वन्दन कर उनके पास बैठा, तब सूरिजी ने कहना प्रारम्भ किया।

(उपदेश)

गाहा :-

पोग्गल-परियट्टेहिं बहूहिं संपाविरुण मणुयत्तं ।

हारेसु मा मुहाए विसयामिस-मोहिओ भद्र! ॥१३५॥

संस्कृत छाया :-

पुद्गल परिवर्तै बहूभिः सम्प्राप्य मनुजत्वम् ।

हारय मा मुधा विषयाऽऽमिष-मोहितो भद्र! ॥१३५॥

गुजराती अनुवाद :-

हे भद्र! घणा पुद्गल परावर्त पछी आ मनुष्यभवने पामीने विषयरूप
मांसमां मोहित थयेलो मनुष्यभवने फोगट हाटी न जा।

हिन्दी अनुवाद :-

हे भद्र! अनेक पुद्गल परावर्त के बाद इस मनुष्यभव को प्राप्त कर विषयरूपी
आमिष में मोहित होकर इस मनुष्यभव को व्यर्थ में मत गँवाओ।

गाहा :-

विसएसु दढं सत्ता सत्ता बंधंति असुह-कम्माइं ।

तव्वसओ संसारे भमंति अहमासु जोणीसु ॥१३६॥

संस्कृत छाया :-

विषयेषु दृढं सक्ताः सत्त्वा बध्नन्ति अशुभ-कर्माणि ।

तद्वशतः संसारे भ्रमन्ति अधमासु योनिषु ॥१३६॥

गुजराती अनुवाद :-

विषयमां अति लोलुप प्राणीओ अशुभ कर्मो ने छांधे छे तेना परिणामे
संसारमां अधम (हलकी) योनियोमां परिभ्रमण करे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

विषय में अत्यन्त लोलुप प्राणी अशुभ कर्मों को बांधता है, उसके
परिणामस्वरूप संसार में अधम योनियों में परिभ्रमण करता है।

(नरकनी वेदना)

गाहा :-

बह-बंध-मारणाई नाणाविह-वेयणाओ नरएसु ।

पाविंति विसय-गिद्धा दूसहाओ दीहरं कालं ॥१३७॥

संस्कृत छाया :-

वध-बन्ध-मरणादीः नानाविध-वेदना नरकेषु ।

प्राप्नुवन्ति विषयगृह्णा दुस्सहा दीर्घं कालम् ॥१३७॥

गुजराती अनुवाद :-

विषयमां आसक्त प्राणीओ लांबा काल सुधी नरकमां वध-बंध-मृत्यु विगेरे अनेक प्रकारनी दुःसह वेदनाओं प्राप्त करे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

विषय में आसक्त प्राणि लम्बे समय तक नरक में वध-बन्धन-मृत्यु आदि अनेक प्रकार की दुःसह वेदनाओं को प्राप्त करता है।

(आ लोकमां वेदना)

गाहा :-

अच्छउ ता पर-लोए इहेव पाविंति गरुय-दुक्खाइं ।

विसय-पसत्ता दुहंत-इंदिया देहिणो बहवे ॥१३८॥

संस्कृत छाया :-

आस्तां तावत् परलोके इहैव प्राप्नुवन्ति गुरुकदुःखानि ।

विषय-प्रसक्ता दुर्दान्तेन्द्रिया देहिनो बहवः ॥१३८॥

गुजराती अनुवाद :-

परलोक तो दूर रहो पण विषयमां लोलुपी-इन्द्रियोने नहीं दमनारा घणा प्राणीओ आ लोकमां ज भयंकट दुःखोनें भोगवे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

परलोक तो दूर, विषयलोलुप इन्द्रियों का दमन नहीं करने वाले अनेक प्रकार के प्राणी इसी लोक में भयंकर दुःखों को भोगते हैं।

(दृष्टांत द्वारा-इंद्रियोथी थता नुकसाननुं वर्णन)

गाहा :-

मोत्तूण नियय-जूहं करेणुं-सुह-सुरय-फास-पडिबद्धो ।

बद्धो वारी-बंधे फासेण गओ गओ निहणं ॥१३९॥

संस्कृत छाया :-

मुक्त्वा निजकयूथं करेणु-सुखसुरत-स्पर्श-प्रतिबद्धः ।

बद्धो वारिबन्धे स्पर्शेण गजो गतो निधनम् ॥१३९॥

गुजराती अनुवाद :-

पोताना हाथीओना समुदायने छोडीने हाथिणीनी साथे स्पर्शेन्द्रियनां विषय सुखमां आसक्त हाथी, पाणीना बंधमां फसायेलो मात्र स्पर्शेन्द्रियना सुखने कारणे मरणने पावे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

अपने हाथियों के समुदाय को छोड़कर हाथिनी के साथ स्पर्शेन्द्रिय के विषयमुख में आसक्त हाथी, पानी के बन्धन में फँसा हुआ मात्र स्पर्शेन्द्रिय के सुख के कारण मृत्यु को प्राप्त करता है।

गाहा :-

रसणिंदियमि लुब्धो विब्धो गलएण मच्छओ निहओ ।
घाणिंदियमि सत्तो पत्तो उरगोवि मरण-दुहं ॥१४०॥

संस्कृत छाया :-

रसनेन्द्रिये लुब्धो विब्धो गलकेन मत्स्यको निहतः ।
घ्राणेन्द्रिये सक्तः प्राप्त उरगोऽपि मरण-दुःखम् ॥१४०॥

गुजराती अनुवाद :-

रसनेन्द्रियमां लुब्धा थयेलो मत्स्य (मांसने कारणे) गलामां लोहकंटकथी बींथायेलो मृत्यु पावे छे। ज्यारे घ्राणेन्द्रियमां आसक्त थयेलो सर्प पण मरणना दुःखने पावे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

रसनेन्द्रिय में आसक्त मत्स्य (मांस के कारण) गले में लोहकंटक से विंधा हुआ मृत्यु को प्राप्त करता है। जबकि घ्राणेन्द्रिय में आसक्त सर्प भी मृत्यु को प्राप्त करता है।

गाहा :-

उज्जोइय-सयल-दिसं दीव-सिंह पेच्छिउं पयंगोवि ।
तग्गहण-रओ मरणं पत्तो नणु चक्खु-दोसेण ॥१४१॥

संस्कृत छाया :-

उद्योतित-सकल-दिशं-दीपशिखां प्रेक्ष्य पतङ्गोऽपि ।
तद्ग्रहणरक्तो मरणं प्राप्तो ननु चक्षुर्दोषेण ॥१४१॥

गुजराती अनुवाद :-

समग्र दिशाओमां प्रकाश फैलावती दीपशिखाने जोई पंतगीयो पण चक्षु
दोष वडे (रूपमां आसक्त) तेने ग्रहण करवा ललचायेलो मरणने पामे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

समग्र दिशाओं में प्रकाश फैलाती हुई दीपशिखा को देखकर पतंगे भी चक्षु
दोष के द्वारा (रूप में आसक्त) उसे ग्रहण करने के लोभ में पड़कर मृत्यु को प्राप्त
होते हैं।

गाहा :-

गौरी-सद्दासत्तो निच्चल-तडुविय-कन्न-जुयलिल्लो ।

सवणिंदिय-दोसेणं मिओ मओ वाह-बाणेण ॥१४२॥

संस्कृत छाया :-

गौरी-शब्दाऽऽसक्तो निश्चल-तत-कर्णयुगलकः ।

श्रवणेन्द्रियदोषेण मृगो मृतो व्याध-बाणेन ॥१४२॥

गुजराती अनुवाद :-

स्त्री आदिना संगीतना शब्दोमां पागल चनेलो-स्थिर-लांबा कर्ण-
युगलवालों हरण श्रवणेन्द्रियनी आसक्तिथी शिकारीनां बाण वडे मराय छे।

हिन्दी अनुवाद :-

स्त्री आदि के संगीत के शब्दों में पागल बना हुआ, स्थिर, लम्बे कानों वाला
हिरण श्रवणेन्द्रिय की आसक्ति के कारण शिकारी के बाणों से मारा जाता है।

गाहा :-

एक्किक्किंदिय-वसगा एए सव्वेवि पाविया निहणं ।

पंचिंदिय-वसगाणं नराण पुण का गई होज्जा? ॥१४३॥

संस्कृत छाया :-

एकैकेन्द्रियवशगा एते सर्वेऽपि प्राप्ता निधनम् ।

पञ्चेन्द्रिय-वशगानां नराणां पुनः का गति भवेत् ॥१४३॥

गुजराती अनुवाद :-

सक-सक इन्द्रियने वश थयेला पण सर्वे मरण दशाने पामे छे तो पांचे
इन्द्रियोने वश थयेला मनुष्योनी तो शी गति थाय?

हिन्दी अनुवाद :-

एक-एक इन्द्रिय के वश में हुए ये सभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं तो पाँचों इन्द्रियों के वश में हुए मनुष्य की क्या गति होगी?

गाथा :-

ता पंचिन्दिय-वसगो विसय-सुहं सेविऊण मा भद्र! ।

धम्मोवज्जण-रहिओ वच्चसु घोरम्मि नरयम्मि ॥१४४॥

संस्कृत छाया :-

तावत् पञ्चेन्द्रियवशगो विषयसुखं सेवित्वा मा भद्र! ।

धर्मोपार्जन-रहितो ब्रज घोरे नरके ॥१४४॥

गुजराती अनुवाद :-

तेथी हे भद्र! पांचे इन्द्रियोने वश थयेलो तुं विषय-सुखने भोगवीने धर्मथी विमुख थयेलो घोर नरकमां न जा।

हिन्दी अनुवाद :-

अतः हे भद्र! पाँचों इन्द्रियों के वश में होकर तुम विषयसुख को भोगते हुए धर्म से विमुख होकर घोर नरक में मत जाओ।

गाथा :-

किज्जउ धम्मम्मि मई विसय-सुहं उज्झिऊण ता इण्हि ।

सहलीकरेसु सुंदर! अइदुलहं मणुय-जम्मंति ॥१४५॥

संस्कृत छाया :-

क्रियतां धर्मे मतिर्विषय-सुखमुज्झित्वा तद् इदानीम् ।

सफली-कुरु सुन्दर! अतिदुर्लभं मनुजजन्मेति ॥१४५॥

गुजराती अनुवाद :-

माटे तु हालमां विषय-सुखनो त्याग करीने धर्ममां मति कर (अने ते प्रमाणे करीने) हे सुंदर! अतिदुर्लभ-मनुष्य जन्मने सफल कर!

हिन्दी अनुवाद :-

अतः तुम शीघ्र ही विषय-सुख का त्याग कर धर्म में मति करो (और ऐसा करके) हे सुन्दर! अति दुर्लभ मनुष्य जन्म को सफल करो।

(धनवाहन द्वारा खुलासो)

गाहा :-

एयं गुरुणो वयणं निसम्म धणवाहणो इमं भणइ ।

इच्छामि तुम्ह वयणं किं पुण निसुणोह मह भणियं ॥१४६॥

संस्कृत छाया :-

एतद्गुरोर्वचनं निशम्य धनवाहन इदं भणति ।

इच्छामि तव वचनं किंपुन-र्निःशृणुत मया भणितम् ॥१४६॥

गुजराती अनुवाद :-

गुरु भगवंतनुं आ वचन सांभलीने धनवाहन आम् कहेछे, आपना वचनने, हुं इच्छुं छुं, पण माटा वडे कहेलुं आप सांभली।

हिन्दी अनुवाद :-

गुरु भगवन्त के वचन सुनकर धनवाहन इस प्रकार कहता है, आपके वचन को मैं जानता हूँ, परन्तु मेरे द्वारा कहा हुआ आप सुनें।

गाहा :-

अइनेह-परा वरई खणमवि विरहं न सक्कए सोढुं ।

दइयाऽणंगवई मह तेण न सक्केमि तं मोत्तुं ॥१४७॥

संस्कृत छाया :-

अतिस्नेहपरा वराकी क्षणमपि विरहं न शक्नोति सोढुम् ।

दयिताऽनङ्गवती मम तेन न शक्नोमि तां मोक्तुम् ॥१४७॥

गुजराती अनुवाद :-

अत्यंत स्नेहवाली माटी अनंगवती पत्नी छे, जे बिचारी क्षणमात्र पण माटा विरहने सहन करवा समर्थ नथी तेथी हुं तेने छोडवा माटे समर्थ नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

अत्यन्त स्नेहवाली मेरी अनंगवती पत्नी है, जो बेचारी क्षणमात्र भी मेरे विरह को सहन करने में समर्थ नहीं है, अतः मैं उसे छोड़ने के लिए समर्थ नहीं हूँ।

गाहा :-

तुब्भंपि वंदणत्थं आगमणं तेण होइ नो मज्झ ।

मह विरहे सा वरई इण्हिपि हु अच्छए किच्छं ॥१४८॥

संस्कृत छाया :-

तवापि वन्दनार्थमागमनं तेन भवति न मम ।

मम विरहे सा वराकी इदानीमपि खल्वास्ते कृच्छ्रम् ॥१४८॥

गुजराती अनुवाद :-

ते कारणे ज तमने वंदन करवा माटे मारु आववुं थतुं नथी, मारु विरहमां ते बिचायी अत्याटे पण दुःखपूर्वक रहे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

इस कारण से आपका वन्दन करने के लिए मेरे द्वारा आया नहीं जाता, मेरे विरह में वह बेचारी इस समय भी दुःखपूर्वक रह रही है।

(गुरुजी द्वारा प्रकाश)

गाहा :-

ततो गुरुणा भणियं चंचल-चित्ताण महिलिआण कए ।

को व सकन्नो पुरिसो हारिज्जा अप्पयं भद्र! ॥१४९॥

संस्कृत छाया :-

ततो गुरुणा भणितं चञ्चल-चित्तानां महिलानां कृते ।

को वा सकर्णः पुरुषो हारयेदात्मानं भद्र! ॥१४९॥

गुजराती अनुवाद :-

तेयाटे गुरु भगवंत वडे कहेवायुं। चंचल चित्तवाली महिलाओं माटे हे भद्र! कयो बुद्धिशाली पुरुष पोताना आत्माने-(आत्माने आराधनाने) हायी जाय?

हिन्दी अनुवाद :-

तब गुरु भगवन्त के द्वारा कहा गया कि चंचल चित्तवाली महिलाओं के लिए हे भद्र! कौन सा बुद्धिशाली पुरुष अपनी आत्मा को (आत्मा की आराधना) को हार जाएगा?

गाहा :-

पवणुब्बुय-धय-चंचल-चित्तासु महिलिआसु आसत्तो ।

जो धम्मम्मि पमायइ सो काउरिसो, न सप्पुरिसो ॥१५०॥

संस्कृत छाया :-

पवनोद्धत ध्वज-चञ्चल-चित्तासु महिलास्वासक्तः ।

यो धर्मे प्रमाद्यति स का-पुरुषो न सत्पुरुषः ॥१५०॥

गुजराती अनुवाद :-

पवनथी उडती धजा समान चंचल चित्तवाली स्त्रीओमां आसक्त जे पुरुष
धर्ममां प्रमाद करे छे ते कायए पुरुष छे नहीं के सत्पुरुष।

हिन्दी अनुवाद :-

पवन से उड़ती हुई ध्वजा के समान चंचल चित्तवाली स्त्रियों में आसक्त जो
पुरुष धर्म में प्रमाद करता है, वह कायर पुरुष है, न कि सत्पुरुष।

(स्त्री विषनी वेलडी)

गाहा :-

अविय

अंतो-विस-भरियाओ मणहर-रूवाओ बज्ज-वित्तीए ।

गुंजा-फल-सरिसाओ होंति सभावेण महिलाओ ॥१५१॥

संस्कृत छाया :-

अपि च-अन्तर्विषभृता मनोहररूपा बाह्यवृत्या ।

गुञ्जाफल सदृशा भवन्ति स्वभावेण महिलाः ॥१५१॥

गुजराती अनुवाद :-

वली चणोठी जेवी अंदरथी झेरथी भरेली तथा चहारथी आकर्षक
रूपवाली स्वभावनी स्त्रिओ होय छे।

हिन्दी अनुवाद :-

और स्त्रियाँ स्वभाव से ही चणोठी के समान अन्दर से विष से भरी हुई तथा
बाहर के आकर्षक रूपवाली होती हैं।

गाहा :-

सच्च-दय-सोय-रहिया अकज्ज-निरयाओ साहस-धणाओ ।

भय-जणणीओ, तासुं को व सकन्नो रइं कुज्जा? ॥१५२॥

संस्कृत छाया :-

सत्यदयाशौच-रहिता अकार्यनिरताः साहसधनाः ॥

भयजन्यस्तासु को वा सकर्णो रतिं कुर्यात् ॥१५२॥

गुजराती अनुवाद :-

सत्य-दया-पवित्रतायी रहित अकार्यमां तत्पर साहसरूप, धनवाली भयने पैदा करनारी सवी स्त्रीओ छे, तेओने विषे कोण बुद्धिमान प्रीति करे?

हिन्दी अनुवाद :-

सत्य-दया-पवित्रता से रहित अकार्य में तत्पर साहस रूप धनवाली, भय को पैदा करनेवाली स्त्रियाँ होती हैं, उनसे भला कौन बुद्धिमान प्रेम करेगा?

गाहा :-

रक्ताओ हरंति धणं पाणेवि हरंति तह विरक्ताओ ।

रागेवि विरागेवि य भयंकरा दुट्ट-जुवईओ ॥१५३॥

संस्कृत छाया :-

रक्ता हरन्ति, धनं प्राणानपि हरन्ति तथा विरक्ताः ।

रागेऽपि विरागेऽपि च भयङ्करा दुष्टयुवत्यः ॥१५३॥

गुजराती अनुवाद :-

रागी स्त्रिओ धनने अने विरागी स्त्रिओ प्राणेने पण हटे छे, आवी दुष्ट स्त्रिओ रागमां अने वैराग्यमां छनेमां भयंकर छे।

हिन्दी अनुवाद :-

रागी स्त्रियाँ धन का तथा विरागी स्त्रियाँ प्राणों का भी हरण कर लेती हैं, ऐसी दुष्ट स्त्रियाँ राग में और विराग में दोनों में भयंकर हैं।

(स्त्रीयोंने कोण प्रिय)

गाहा :-

अन्नं चिंतेंति मणे नियंति अन्नं घडेंति अन्नेण ।

चल-चित्तणं ताणं को नाम हविज्ज वल्लहओ? ॥१५४॥

संस्कृत छाया :-

अन्यं चिन्तयति मनसि पश्यन्त्यन्यं घटन्तेऽन्येन ।

चलचित्तानां तासां को नाम भवेद् वल्लभकः? ॥१५४॥

गुजराती अनुवाद :-

आवी स्त्रिओ मनमां अन्यनुं चिंतवन करे छे, जुवे छे बीजाने, अने संबंध कोई बीजा साथे करे छे, आवी चल चित्तवाळीओने कोण प्रिय होय?

हिन्दी अनुवाद :-

ऐसी स्त्रियाँ मन में अन्य का चिन्तन करती हैं, देखती हैं अन्य को तथा सम्बन्ध किसी तीसरे के साथ करती हैं। ऐसी चंचल चित्तवाली स्त्रियों को कौन प्रिय होता है।

गाथा :-

मारंति पइं जारस्स कारणे तंपि हंदि! अन्नद्धा ।
वीसासंति य अन्नं सब्भावं नेय पयडेंति ॥१५५॥

संस्कृत छाया :-

मारयन्ति पतिं जारस्य कारणे तमपि हन्दि! अन्यार्थम् ।
विश्वसन्ति चान्यं सद्भावं नैव प्रकटयन्ति ॥१५५॥

गुजराती अनुवाद :-

वली ते युवतीओ जार (परपुरुष) ने कारणे पतिने मारी नाखे छे, बीजाने माटे थइने जारने माटे छे, विश्वास राखे छे अन्य बीजा उपर परंतु पोतानो सद्भाव क्यांय प्रगट करती नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

और वे स्त्रियाँ जार (परपुरुष) के कारण पति को भी मार डालती हैं, दूसरों के लिए जार को मार डालती हैं, विश्वास रखती हैं अन्य दूसरों पर, परन्तु अपना सद्भाव कहीं भी प्रगट नहीं करती हैं।

गाथा :-

किं बहुणा भणिण्णं जाओ य हणंति नियय-पुत्तंपि ।
को नाम पिओ तासिं हविज्ज चवलाण महिलाण? ॥१५६॥

संस्कृत छाया :-

किं बहुना भणितेन जातश्च हन्ति निजकपुत्रमपि ।
को नाम प्रियस्तासां भवेच्चपलानां महिलानाम्? ॥१५६॥

गुजराती अनुवाद :-

बहु कहेवा वडे शुं? जन्मेला पोताना ज पुत्रने पण मारी नाखे छे, आवी चपल स्त्रीओने वळी प्रिय कोण?

हिन्दी अनुवाद :-

अधिक क्या कहना? जन्मे हुए अपने ही पुत्र को मार डालती हैं, ऐसी चपल स्त्रियों के लिए भला प्रिय कौन हो सकता है?

गाहा :-

ता भद्र! एरिसाणं तडिच्छडाडोव-चवल-हिययाणं ।

महिलाण कए को इह हविज्ज सिढिलायरो धम्मे? ॥१५७॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद् भद्र! ईदृशातां तडित्-छटाटोपचपलहृदयानाम् ।

महिलानां कृते क इह भवेत् शिथिलादरो धर्मे? ॥१५७॥

गुजराती अनुवाद :-

तेथी हे भद्र! विद्युत्तलता समान चंचल हृदयवाली महिलाओने माटे थइने कोण अहीं धर्ममां शिथिल आदरवाळो थाय?

हिन्दी अनुवाद :-

अतः हे भद्र! विद्युल्लता के समान चंचल हृदयवाली महिलाओं के लिए कौन यहाँ शिथिल आदरवाला होगा?

गाहा :-

इय गुरु-भणियं सोउं विहसिय धणवाहणेण संलत्तं ।

अन्नाओ जुवईओ एवंविह-दुष्ट-चरियाओ ॥१५८॥

संस्कृत छाया :-

इति गुरु-भणितं श्रुत्वा विहस्य धनवाहनेन संलप्तम् ।

अन्या युवत्य एवंविध-दुष्ट-चरिताः ॥१५८॥

गुजराती अनुवाद :-

गुरु भगवंतनुं कहेलुं सांभलीने हसीने धनवाहने कह्युं, बीजी युवतिओ आवा प्रकारना दुष्ट चरित्रवाली होय छे।

हिन्दी अनुवाद :-

गुरुभगवन्तो के द्वारा कही हुई बातें सुनकर हँसते हुए धनवाहन ने कहा कि अन्य युवतियाँ इस प्रकार की दुष्ट चरित्रवाली होती हैं।

(धनवाहन द्वारा फरी खुलासो)

गाहा :-

मह महिला पुण सरला पइ-व्वया सच्च-सील-दय-जुता ।
अणुरत्ता सुविणीया थिर-नेहा गुरु-जणे भत्ता ॥१५९॥

संस्कृत छाया :-

मम महिला पुनः सरला पतिव्रता सत्य शीलदयायुक्ता ।
अनुरक्ता सुविनीता स्थिर-स्नेहा गुरुजने भक्ता ॥१५९॥

गुजराती अनुवाद :-

वली माटी स्त्री तो सरल, पतिव्रता, सत्य-शील तथा दयायुक्त, मारामां
अनुराग वाली, विनययुक्त, स्थिर स्नेहवाली तथा (वडीलो) गुरुजनोनी भक्ति
करनाची छे।

हिन्दी अनुवाद :-

मेरी स्त्री तो सरल, पतिव्रता, सत्य-शील तथा दयायुक्त, मेरे में अनुराग वाली,
विनययुक्त, स्थिर स्नेहवाली तथा गुरुजनों की भक्ति करनेवाली है।

गाहा :-

सरिसा सा कह होज्जा असुद्ध-चारियाण अन्न-महिलाण? ।
लोह-तुरंगाईणं दीसइ-गुरु-अंतरं लोए ॥१६०॥

संस्कृत छाया :-

सदृशा सा कथं भवेदशुद्धचरितानामन्यमहिलानाम् ।
लोह-तुरङ्गादीनां दृश्यते गुर्वन्तरं लोके ॥१६०॥

गुजराती अनुवाद :-

आवी माटी पत्नीनी अशुद्ध चरित्रवाली अय स्त्रीओनी साथे कइ रीते
सरस्रामणी कराय? लोकमां पण लोढानो घोडे अने असल घोडे ते चे मां
सोट्टु अंतर देखाय छे।

हिन्दी अनुवाद :-

ऐसी मेरी पत्नी की अशुद्ध चरित्रवाली अन्य स्त्रियों के साथ कैसे तुलना की
जा सकती है? लोक में भी असली घोड़े में और लोहे के घोड़े में बड़ा अन्तर
देखा जाता है।

(गुरुजी द्वारा फरी प्रकाश)

गाहा :-

ततो गुरुणा भणियं मणोहरा तुङ्ग जइवि सा महिला ।
तहवि हु उवभुज्जंता सरणी सा नरय-नयरस्स ॥१६१॥

संस्कृत छाया :-

ततो गुरुणा भणितं मनोहरा तव यद्यपि सा महिला ।
तथाऽपि खलूपभुज्यमाना सरणिः सा नरक-नगरस्य ॥१६१॥

गुजराती अनुवाद :-

त्याचे गुरु वडे कहेवायुं जो के ताची स्त्री सुंदर छे तो पण भोगवाती
ते नरकाना नगरनी मार्ग छे।

हिन्दी अनुवाद :-

तब गुरु के द्वारा कहा गया, यद्यपि तुम्हारी स्त्री सुन्दर है, फिर भी भोगी
जाती हुई वह नरक के नगर का मार्ग है।

गाहा :-

जह किंपाग-फलाइं भुत्ताइं दुहावहाइं इह होंति ।
तह इत्थी-सुरय-सुहं मणहरमवि दोग्गाइं नेइ ॥१६२॥

संस्कृत छाया :-

यथा किम्पाकफलानि भुक्तानि दुःखावहानीह भवन्ति ।
तथा स्त्री-सुरत-सुखं मनोहरमपि दुर्गतिं नयति ॥१६२॥

गुजराती अनुवाद :-

जेवी चीते किंपाक फळोनो उपभोग आ भवमां ज दुःखदायक छे ते
चीते स्त्री माथे (सुरत) काम क्रीडानुं सुख मनोहर होवा छतां परिणामे
दुर्गतिमां लइ जाय छे।

हिन्दी अनुवाद :-

जिस प्रकार किंपाक फल का उपयोग इस भव में दुःखदायक है, उसी प्रकार
स्त्री के साथ (सुरत) काम क्रीड़ा का सुख मनोहर होते हुए भी उसका परिणाम दुर्गति
में ले जाता है।

गाहा :-

जह विस-मीसं सरमंपि भोयणं जीवियं हरइ भुत्तं ।
तह सुंदरावि रमणी रमिया नणु दोग्गइं देइ ॥१६३॥

संस्कृत छाया :-

यथा विष-मिश्रं सरसमपि भोजनं जीवितं हरति भुक्तम् ।
तथा सुन्दराऽपि रमणी रता ननु दुर्गतिं ददाति ॥१६३॥

गुजराती अनुवाद :-

जे चीते बहु सटस पण विषमिश्रित भोजन खावामां आवे तो ते प्राणोने हटे छे ते चीते सुंदर सवी स्त्री साथेनी क्रीडा खरेखर दुर्गति दायक बने छे।

हिन्दी अनुवाद :-

जिस प्रकार बहुत स्वादिष्ट परन्तु विषयुक्त भोजन किया जाए, तो वह प्राणों का हरण करता है, उसी प्रकार सुन्दर स्त्री के साथ क्रीड़ा सचमुच दुर्गतिदायक बनती है।

गाहा :-

ता उज्झसु अणुरायं कुगइ-निमित्ताए नियय-दइयाए ।
पंच-महव्वय-जुत्तो होसु तुमं चरण-निरउत्ति ॥१६४॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद् उज्झानुरागं कुगति-निमित्ताया निजकदयितायाः ।
पञ्च-महाव्रत-युक्तो भव त्वञ्चरणनिरत इति ॥१६४॥

गुजराती अनुवाद :-

तेथी दुर्गतिना निमित्तरूप पोतानी स्त्रीनो अनुराग तुं छोडी दे, अने पंच महाव्रतने धारण करी तुं चाट्टि (नौ) मां रागी बन।

हिन्दी अनुवाद :-

अतः दुर्गति का निमित्तरूप अपनी स्त्री का अनुराग तू छोड़ दे, और पंच महाव्रत को धारण कर तू चारित्र (का) में रागी बना।

(प्रतिदिन उपदेश)

गाहा :-

एवं दिवसे दिवसे संवेगकरेहिं महुर्-वयणेहिं ।
बोहिज्जंतो मणयं जाओ अह पयणु-रागो सो ॥१६५॥

संस्कृत छाया :-

एवं दिवसे दिवसे संवेगकरैर्मधुरवचनैः ।
बोध्यमानो मनाग् जातोऽथ प्रतनुरागः सः ॥१६५॥

गुजराती अनुवाद :-

आ प्रमाणे प्रतिदिन संवेगकारी मधुर वचनो वडे बोध पम्डातो ते स्त्री
उपट ओझा रागवालो थयो।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार प्रतिदिन संवेगकारी मधुर वचनों के द्वारा बोध दिए जाने पर वह
स्त्री के ऊपर अल्प रागवाला हुआ।

गाहा :-

अन्न-दिणे एगंते गुरु-पुरओ अंजलिं करेरुण ।
धणवाहणो स एवं वज्जरई परम-संविग्गो ॥१६६॥

संस्कृत छाया :-

अन्यदिने एकान्ते गुरुपुरतोऽञ्जलिं कृत्वा ।
धनवाहनः स एवं कथयति परमसंविज्ञः ॥१६६॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे एक दिवस सकांतमां पण संवेगी सवो धनवाहन गुरुने अंजलि
जोडीने आ प्रमाणे कहे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

अब एक दिन एकान्त में भी संवेगी वह धनवाहन गुरु को अंजलि जोड़कर
इस प्रकार कहता है।

गाहा :-

तुम्हाणममय-भूए वयणे निसुएवि मज्झ हिययाओ ।
किं नो सक्कइ रागो विसंव दुट्ठस्स सप्पस्स ? ॥१६७॥

संस्कृत छाया :-

युष्माकममृतभूते वचने श्रुतेऽपि मम हृदयात् ।

किं न ष्वक्ते रागो विषमिव दुष्टस्य सर्पस्य ॥१६७॥

गुजराती अनुवाद :-

आपना अमृत समान वचन सांभलवा छतां मारा हृदयमांथी दुष्ट सर्पनां
विषनी जेम राग केम ओछे थतो नथी?

हिन्दी अनुवाद :-

आपके अमृत के समान वचनों को सुनकर भी मेरे हृदय से दुष्ट सर्प के
विष के समान राग क्यों कम नहीं होता है?

(धनवाहननी अंतरव्यथा)

गाहा :-

भयवं! ताव न तुट्टइ दइयाए उवरि सव्वहा रागो ।

नवरं करेमि एकं जइ जुत्तं तुम्ह पडिहाइ ॥१६८॥

संस्कृत छाया :-

हे भगवन्! तावन्न नृत्थति दयिताया उपरि सर्वथा रागः ।

नवरं करोमि एकं यदि युक्तं तव प्रतिभाति ॥१६८॥

गुजराती अनुवाद :-

हे भगवन्! ज्यां सुधीस्त्री उपरनी (प्रत्येनी) राग सर्वथा तूटे नही त्यां
सुधी हुं सक काम करवा इच्छुं छुं। पण जो आपने गमे तो...!

हिन्दी अनुवाद :-

हे भगवन्! जबतक स्त्री के ऊपर (प्रति) राग सर्वथा टूट नहीं जाता, तबतक
मैं एक काम करना चाहता हूँ, परन्तु यदि आपको अच्छा लगे तो...।

(अनंगवतीनुं दर्शन आवश्यक)

गाहा :-

सुरय-सुह-निष्पिवासो दिक्खं गिण्हामि तुम्ह पामूले ।

दइयाए समं अहयं दंसणमित्तेण संतुट्ठो ॥१६९॥

संस्कृत छाया :-

सुरत-सुख-निषिपासो दीक्षां गृह्णामि भवतः पादमूले ।
दयितया सममहकं दर्शन-मात्रेण संतुष्टः ॥१६९॥

गुजराती अनुवाद :-

विषय-सुखनी तृष्णा-रहित हूं आपना चरण-कमलमां पत्नी साथे दीक्षा
ग्रहण करूं। जेथी तेणीना दर्शन मात्रेयी संतोष पावूं।

हिन्दी अनुवाद :-

विषयसुख की तृष्णा से रहित होकर मैं आपके चरण कमलों में अपनी पत्नी
के साथ दीक्षा ग्रहण करूँ। जिससे उसके दर्शनमात्र से सन्तोष प्राप्त कर सकूँ।

गाथा :-

एवं व्यवस्थियमि जइ जोग्गं देह मज्झ तो दिक्खं ।
तीए अदंसणेणं सक्केमि न जीवियं धरिउं ॥१७०॥

संस्कृत छाया :-

एवं व्यवस्थिते यदि योग्यं देहि मम तदा दीक्षाम् ।
तस्या अदर्शनेन शक्नोमि न जीवितं धर्तुम् ॥१७०॥

गुजराती अनुवाद :-

आवो माणे विचार छे आवी व्यवस्था होते छते जो आपने योग्य लागे
तो दीक्षा आपो, तेणीना दर्शन विना तो हूं जीवन टकावी नहीं शकूं।

हिन्दी अनुवाद :-

ऐसा मेरा विचार है, ऐसी व्यवस्था होते हुए यदि आपको उचित लगे तो
दीक्षा प्रदान करें, उसके दर्शन के बिना तो मैं जीवित ही नहीं रह सकता हूँ।

गाथा :-

तव्वयणं सोऊण य सुधम्म-सूरी विचिंतए एवं ।
पेच्छह अइदुरंतो रागो कह विलसए लोए? ॥१७१॥

संस्कृत छाया :-

तद्वचनं श्रुत्वा च सुधर्मसूरिर्विचिन्त्यत्येवम् ।
पश्यत अतिदुरन्तो रागः कथं विलसति लोके? ॥१७१॥

गुजराती अनुवाद :-

तेना वचन सांभलीने सुधर्मसूरिजीर विचार्युह, अहो! आ जगतमां अति
दुरंत दुःखे दूर थाय खो विषयराग केवो विलसी रह्यो छे!

हिन्दी अनुवाद :-

उसके वचनों को सुनकर सुधर्मसूरिजी ने विचार किया, अहो! इस जगत् में
अति दुरन्त दुःख से दूर हो, ऐसा यह विषय-राग कैसा विलस रहा है?

गाहा :-

एवंपि ता दिज्जउ पव्वज्जा ताहि गहिय-सुत्तथो ।

सयमेव विवेग-जुओ उज्झिस्सइ राग-संबंधं ॥१७२॥

संस्कृत छाया :-

एवमपि तावद् दीयतां प्रव्रज्या तदा गृहीतसूत्रार्थः ।

स्वयमेव विवेकयुक्त उज्झिष्यति रागसम्बन्धम् ॥१७२॥

गुजराती अनुवाद :-

ते विषयमां रागी छे छतां पण तेने दीक्षा अपाय, दीक्षा ग्रहण बाद
सुवार्थमां निपुण थयेलो-विवेकी ते जाते ज रागना संबंधने छोडी देशे।

हिन्दी अनुवाद :-

यह विषय में रागी है, फिर भी इसे दीक्षा दी जा सकती है, दीक्षा ग्रहण
करने के बाद सूत्रार्थ में निपुण हुआ यह विवेकी स्वयं ही राग के सम्बन्ध को छोड़
देगा।

(धनवाहननी भार्या सहित प्रव्रज्या)

गाहा :-

एवं विचिंतिकुणं अणंगवइयाए संजुओ ताहे ।

धणवाहणो स-भाया गुरुणा पव्वाविओ विहिणा ॥१७३॥

चंदजसा-नामाए मयहरियाए समप्पिया सावि ।

साहुणि-गण-मज्झ-गया सिक्खइ वर-साहुणी-किरियं ॥१७४॥

संस्कृत छाया :-

एवं विचिन्त्यानङ्गवत्या संयुक्तास्तदा ।

धनवाहनः सभार्यः गुरुणा प्रव्राजितो विधिना ॥१७३॥

चन्द्रयशानामयै महत्तरायै समर्पिता साऽपि ।

साध्विगणमध्यगता शिक्षते वरसाध्वी-क्रियाम् ॥१७४॥ युग्मम्

गुजराती अनुवाद :-

ए प्रमाणे विचारी ने त्यारे गुरुस अनंगवती सहित भाई धनवाहनने विधिपूर्वक दीक्षा आपी। त्यारबाद गुरुस अनंगवती साध्वीने चंद्रयशा नामनी महत्तरा (मोटी) साध्वी ने सोंपी ते पण साध्वी समुदायमां रहीने उत्तम प्रकारनी साध्वीनी क्रियानो अभ्यास करवा लागी।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार विचार करने के बाद गुरु ने अनंगवती सहित भाई धनवाहन को विधिपूर्वक दीक्षा दी। उसके बाद गुरु ने अनंगवती साध्वी को चन्द्रयशा नामक महत्तरा (बड़ी) साध्वी को सौंपा। वह भी साध्वी समुदाय में रहकर उत्तम प्रकार की साध्वी की क्रियाओं का अभ्यास करने लगी।

गाहा :-

एवं च ताण दोणहवि परोप्परं जाव तुट्टइ न रागो ।

बहुणावि हु कालेणं सुत्तत्थ-विसारयाणंपि ॥१७५॥

ताव य गुरुणा भणियं एगंते भारईए महुराए ।

एयं न जुत्तमहुणा उत्तम-सत्ताण तुम्हाण ॥१७६॥ (युग्मम्)

संस्कृत छाया :-

एवं च तयो द्वयोरपि परस्परं यावत् वृत्त्यति न रागः ।

बहुनाऽपि खलु कालेन सूत्रार्थ-विशारदयोरपि ॥१७५॥

तावच्च गुरुणा भणित-मेकान्ते भारत्या मधुरया ।

एतन्त युक्तमधुनोत्तमसत्त्वयोर्युवयोः ॥१७६॥ (युग्मम्)

गुजराती अनुवाद :-

आ प्रमाणे सूत्रार्थमां विशारद ते बने ने घणा काल वडे पण ज्यां सुधी परस्पर राग छूट्यो नहीं त्यारे गुरुस सकांतमां मधुर वाणी वडे कह्युं, उत्तम सत्त्ववाला तमने हवे आ राग करवो योग्य नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार सूत्रार्थ में विशारद उन दोनों का बहुत काल तक भी जब परस्पर राग नहीं छूटा, तब गुरु ने एकान्त में मधुर वाणी के द्वारा कहा, 'उत्तम सत्त्ववाले आपको अब यह राग करना उचित नहीं है।'

(गुरुजी द्वारा पुनः प्रतिबंध)

गाहा :-

अविरइ-जुवइ-जणेवि हु सवियार-पलोयणम्मि साहुस्स ।
पायच्छित्तं गरुयं भणियं सुत्ते जिणिंदस्स ॥१७७॥

संस्कृत छाया :-

अविरति-युवति-जनेऽपि खलु सविकार प्रलोकने साधोः ।
प्रायश्चित्तं गुरुकं भणितं सूत्रे जिनेन्द्रस्य ॥१७७॥

गुजराती अनुवाद :-

गृहस्थ स्त्री (अविरति युवतिजन) ने सविकार दृष्टि वडे जोवामां पण साधुने जिन सिद्धांतमां मोटुं (गुरु) प्रायश्चित्त कह्युं छे।

हिन्दी अनुवाद :-

गृहस्थ स्त्री (अविरति युवतियों) को विकारयुक्त दृष्टि से देखने में भी साधु को जैन सिद्धांत में बहुत बड़ा प्रायश्चित्त कहा गया है।

गाहा :-

जं पुण साहुणि-विसए सवियार-पलोयणं तु साहुस्स ।
तं भद्र! गुरु-अणत्थस्स कारणं वन्नियं समए ॥१७८॥

संस्कृत छाया :-

यत्पुनः साध्वी-विषये सविकारप्रलोकननु साधोः ।
तद् भद्र! गुर्वनर्थस्य कारणं वर्णितं समये ॥१७८॥

गुजराती अनुवाद :-

तो पछी साध्वीनां विषयमां विकार सहित जोवुं ते तो भद्र! मोटा अनर्थनुं कारण छे तेम शास्त्रमां कहेलुं छे।

हिन्दी अनुवाद :-

तो फिर साध्वी के विषय में विकार सहित देखना तो भद्र! बहुत बड़े अनर्थ का कारण है, ऐसा शास्त्र में कहा गया है।

गाहा :-

इयर-महिला-जणेवि हु दिट्ठी-पाओ न होइ जुत्तोति ।
किं पुण समणी-विसए अबोहि-बीयस्स मुलम्मी? ॥१७९॥

संस्कृत छाया :-

इतर-महिला-जनेऽपि खलु दृष्टिपातो न भवति युक्त इति ।
किं पुनःश्रमणी-विषयेऽबोधिबीजस्य मूले? ॥१७९॥

गुजराती अनुवाद :-

अन्य महिलाजने विषे पण दृष्टिपात करवो ते युक्त नथी तो पछी
अबोधिना बीजरूप साध्वीनां विषयमां तो कहेवानुं ज शुं?

हिन्दी अनुवाद :-

अन्य महिलाओं के विषय में भी दृष्टिपात करना उचित नहीं है, तो फिर
अबोधि के बीजरूप साध्वी के विषय में तो कहना ही क्या?

गाहा :-

ता उज्झय अविवेयं रागं अवहत्थिऊण भावेण ।
परिहरसु सव्वहच्चिय दिट्ठी-कुशीलत्तणं एयं ॥१८०॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद् उज्झित्वाऽविवेकं रागमपहस्त्य भावेन ।
परिहर सर्वथा एव दृष्टि कुशीलत्वमेतद् ॥१८०॥

गुजराती अनुवाद :-

तेथी अविवेकने दूर करीने रागना भावने छोडीने दृष्टिनां कुशीलपणाना
विकारनो सर्वथा त्याग कर।

हिन्दी अनुवाद :-

अतः अविवेक को दूरकर राग-भाव को छोड़कर दृष्टि की सुशीलता के विकार
का त्याग करो।

(धनवाहन द्वारा आत्मनिंदा)

गाहा :-

एवं गुरुणा भणिओ संविग्गो सोवि चिंतए एवं ।
अइराग-पर-वसस्स ओ धी! धी! मह निव्विवेयस्स ॥१८१॥

संस्कृत छाया :-

एवं गुरुणा भणितः संविज्ञ सोऽपि चिन्तयत्येवम् ।
अतिराग-परवशस्य ओ धिग्! धिग्! मम निर्विवेकस्य ॥१८१॥

गुजराती अनुवाद :-

आ प्रभाणे गुरु भगवंत वडे कहेवायुं त्याचे सविद्ध मोक्षाभिलाषी धनवाहन मुनि आ प्रभाणे विचारते छे- 'अतिशय रागमां परवश तथा विवेक रहित मने धिक्कार छे! धिक्कार छे!

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार (जब) गुरु भगवन्त के द्वारा कहा गया, तब संविद्ध मोक्षाभिलाषी धनवाहन मुनि इस प्रकार विचार करता है—'अतिशय राग में परवश तथा विवेक रहित मुझे धिक्कार है! धिक्कार है!'

गाहा :-

जो हं पणडु-लज्जो गय-राय-पयम्मि वट्टमाणोवि ।

साहु-जण-निंदाणिज्जं रागं न चएमि छड्डुं ॥१८२॥

संस्कृत छाया :-

योऽहं प्रणष्टलज्जो गतरागपदे वर्तमानोऽपि ।

साधुजन-निन्दनीयं रागं न शक्नोमि मोक्तुम् ॥१८२॥

गुजराती अनुवाद :-

अरे हूं केवो निर्लज्ज छुं! त्यागी तवो साधुव्रतमां होवा छतां पण साधु महात्माने निंदापात्र तेवा रागने छोडी शकतो नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

अरे मैं कैसा निर्लज्ज हूँ! त्यागी साधुव्रत में होते हुए भी साधु महात्मा के निन्दापात्र राग को छोड़ नहीं सकता हूँ।

गाहा :-

लब्धूणावि निरवज्जं पवज्जं दुट्टु-राग-पडिबद्धो ।

होहामि पुन्न-रहिओ दीहर-संसार-आभागी ॥१८३॥

संस्कृत छाया :-

लब्ध्वाऽपि निरवद्यां प्रव्रज्यां दुष्टराग-प्रतिबद्धः ।

भविष्यामि पुण्यरहितो दीर्घ-संसाराऽऽभागी ॥१८३॥

गुजराती अनुवाद :-

निष्पाप सवी दीक्षाने ग्रहण करीने पण दुष्ट रागमां आसक्त तथा पुण्यरहित सवो हूं दीर्घ संसारने पावीश।

हिन्दी अनुवाद :-

निष्पाप दीक्षा को ग्रहण करके भी दुष्ट राग में आसक्त तथा पुण्यरहित मैं दीर्घ संसार को प्राप्त करूँगा।

गाहा :-

हा जीव! पाव! भूमिहिसि नारय-तिरिएसु दीहरं कालं ।
अविसय-पयट्ट-रागो लब्धुणवि धम्ममणवज्जं ॥१८४॥

संस्कृत छाया :-

हा! जीव! पाप। भूमिष्यसि नारकतिर्यक्षु दीर्घं कालम् ।
अविषय-प्रवृत्तरागो लब्धवाऽपि धर्ममनवद्यम् ॥१८४॥

गुजराती अनुवाद :-

हे जीव! हे पापिष्ठ! निर्दोष सदा धर्मनि पाप्मीने पण तुं विपरीत विषयमां
(दर्शन मात्रमां) थयेला रागवालो लांबा काल सुधी नरक तिर्यचगतिमां
भमीश।

हिन्दी अनुवाद :-

हे जीव! हे पापिष्ठ! निर्दोष धर्म को प्राप्त कर तू विपरीत विषय में (दर्शन मात्र में) रागी होने के कारण लम्बे समय तक नरक-तिर्यचगति में भ्रमण करोगे।

(राग न उतर्यो)

गाहा :-

एवं भावेतस्सवि धणवाहण-साहुणो न उत्तरइ ।
अणुरागो तव्विसए तीएवि य तस्स उवरिम्मि ॥१८५॥

संस्कृत छाया :-

एवं भावयतोऽपि धनवाहनसाधोर्नाऽवतरति ।
अनुरागस्तद्-विषये तस्या अपि च तस्योपरि ॥१८५॥

गुजराती अनुवाद :-

आ प्रमाणे भावना करवा छतां पण धनवाहन मुनिनो अनंगवती साध्वी
ऊपर नो राग उतरतो नथी, तेमज ते साध्वीनो पण मुनि ऊपरनो राग उतरतो
नथी।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार भावना करते हुए भी धनवाहन मुनि का अनंगवती साध्वी पर से

राग नहीं उतरता था, साथ ही साध्वी का भी मुनि पर से राग न उतरता था।

गाहा :-

एवं वच्चइ कालो संजम-तव-विणय-करण-निरयाणं ।
गुरु-आणा-संपाडण-पराण अह ताण दोण्हंपि ॥१८६॥

संस्कृत छाया :-

एवं व्रजति कालः संयमतपो-विनय-करण-निरतयोः ।
गुर्वाज्ञासंपादन-परथोरथ तयो र्द्वयो-रपि ॥१८६॥

गुजराती अनुवाद :-

आ प्रमाणे संयम-तप तथा विनयमां तत्पर अने गुर्वाज्ञा पालनमां
सावधान खा ते ब्रह्मेणो पण समय पसार थाय छे।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार संयम-तप तथा विनय में तत्पर और गुर्वाज्ञा पालन में सावधान
उन दोनों का समय व्यतीत हो रहा था।

(अनङ्गवती-वसुमतीनुं बहिर्गमन)

गाहा :-

अह अन्नया कयाइवि भगिणीए वसुमईए संजुत्ता ।
चलियाऽणंगवई सा विचार-भूमीए बहियाओ ॥१८७॥

संस्कृत छाया :-

अथान्यदा कदाचिदपि भगिन्या वसुमत्या संयुक्ता ।
चलिताऽनङ्गवती सा विचारभूमौ बहिस्तात् ॥१८७॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे कोई दिवसे वसुमति नामनी पोतानी छेन साथे अनंगवती साध्वी
स्थंडिलभूमि माटे बहार गई।

हिन्दी अनुवाद :-

फिर किसी दिन वसुमति नामक अपनी बहन के साथ अनंगवती साध्वी
स्थंडिलभूमि के लिए बाहर गई।

(स्त्री सहित उन्मत्त पुरुषनुं दर्शन)

गाहा :-

दिद्धो य ताहि एगो महिला-सहिओ नरो उ उम्मत्तो ।
धूलि-रय-धूसरंगो जर-चीवर-चीरियाइन्नो ॥१८८॥

संस्कृत छाया :-

दृष्टश्च तदा एको महिला-सहितो नरस्तून्मत्तः ।
धूलिरजोधूसराङ्गो जरच्चीवर-चीरिकाकीर्णः ॥१८८॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यां धूलथी खवडायेलां शरीरवालो, जर्जरित फाटला वस्त्रो अने
कीडाथी युक्त उन्मत्त पुरुष ने स्त्री साथे जोयो।

हिन्दी अनुवाद :-

तब धूल से भरे शरीरवाले, जर्जरित फटे हुए वस्त्रों तथा कीड़ों से युक्त उन्मत्त
पुरुष को स्त्री के साथ देखा।

गाहा :-

उग्गायंतो बहुहा नच्चंतो डिंभ-सत्थ-परिकिन्नो ।
तं दद्दुमणंगवंई सुइरं पुलएइ तं जुयलं ॥१८९॥

संस्कृत छाया :-

उद्गायन् बहुधा नृत्यन् डिम्भ-सार्थ-परिकीर्णः ।
तं दृष्ट्वाऽनङ्गवती सुचिरं पश्यति तद् युगलम् ॥१८९॥

गुजराती अनुवाद :-

ते पुरुष पागलनी जेम गातो हतो-नाचतो हतो अे घणा बालकोथी
परिवरेलो हतो, जे जोइने अनंगवती ते स्त्री पुरुषने लांबा समय सुधी जोई
रही।

हिन्दी अनुवाद :-

वह पुरुष पागलों के समान गाता था, नाचता था और अनेक बालकों से
घिरा हुआ था, यह देखकर अनंगवती बहुत देर तक उस स्त्री-पुरुष को देखती रही।

गाहा :-

तत्तो तीए भणियं भगिणीए सुलोयणाए अणुहरइ ।
अज्जो! एसा जुवई गह-गहिय-नरस्स पासत्था ॥१९०॥

संस्कृत छाया :-

ततस्तया भणितं भगिन्याः सुलोचनाया अनुहरति ।

आर्ये! एषा युवती ग्रह-गृहीत-नरस्य पार्श्वस्था ॥१९०॥

गुजराती अनुवाद :-

त्याएबाद तेणीस वसुमतिने कह्युं- हे आर्या! गांडाना पाशामां रहेली आ एत्री आपणी बेन सुलोचना जेवी देखाय छे।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद वसुमति ने कहा— 'हे आर्या! पागल के साथ स्थित यह स्त्री हमारी बहन सुलोचना जैसी लग रही है।

(स्त्रीनुं पोतानी बहेन सुलोचना होवानुं अनुमान)

गाहा :-

भणियं च वसुमईए सुइरं निज्जाइऊण सविसायं ।

सच्चिय एसा अहं भगिणी ओ सुलोयणा नाम ॥१९१॥

संस्कृत छाया :-

भणितञ्च वसुमत्या सुचिरं निध्याय सविषादम् ।

सा एव एषा आवयो भगिनी ओ! सुलोचना नाम ॥१९१॥

गुजराती अनुवाद :-

त्याए पछी साची चीते ध्यानपूर्वक जोइने खेद-पूर्वक वसुमती वडे कहेवायुं- 'अरे! हा, सभ ज छे, आ आपणी बेन सुलोचना ज छे।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद भली-भांति ध्यानपूर्वक देखकर खेदपूर्वक वसुमती ने कहा— 'अरे! हाँ, ऐसा ही है, यह हमारी बहन सुलोचना ही है।

(कनकरथ राजपुत्रनुं अकार्य) (सुलोचनानुं सुबंधु साथे लगन)

गाहा :-

परिणीया आसि पुरा सुबंधुणा महेलावइ-पुरीए ।

दिट्ठा कणगरहेणं कयाइ अह राय-उत्तेणं ॥१९२॥

संस्कृत छाया :-

परिणीताऽऽसीत् पुरा सुबन्धुना मेखलावती पुर्याम् ।
दृष्टा कनकरथेन कदाचिदथ राजपुत्रेण ॥१९२॥

गुजराती अनुवाद :-

पहेला मेखलावती नगरीमां सुबंधु साथे परणावी हती। पछी क्यारेक राजपुत्र कनकरथ वडे ते जोवाई।

हिन्दी अनुवाद :-

पहले मेखलावती नगरी में सुबन्धु के साथ (इसका) विवाह किया गया। उसके बाद कभी वह राजपुत्र कनकरथ के साथ देखी गई।

(कनकरथ द्वारा अंतःपुरमां लवाई)

गाहा :-

अंतेउरम्मि छूढा अइगुरु-अणुराय-हरिय-हियएण ।
सयलोरोह-पहाणा जाया अह तस्स वल्लहिया ॥१९३॥

संस्कृत छाया :-

अन्तःपुरे क्षिप्ताऽति-गुर्वनुराग-भरित-हृदयेन ।
सकलावरोधप्रधाना जाताऽथ तस्य वल्लभिका ॥१९३॥

गुजराती अनुवाद :-

अत्यंत अनुरागथी खेंचायेला हृदयवाला ते कनकरथे तेने अंतःपुरमां राखी, तेने अतिप्रिय स्त्री तेणी समस्त अंतःपुरमां प्रधान थई गई।

हिन्दी अनुवाद :-

अत्यन्त अनुराग से आकर्षित हृदयवाले उस कनकरथ ने उसे अन्तःपुर में रखा, उसे अति प्रिय होने के कारण वह अन्तःपुर में प्रधान हो गई।

गाहा :-

एयं मह पच्चवखं सव्वंपि हु सासुरे वसंतीए ।
वित्तं, तुमएवि सुयं अज्जे! लोय-प्पवायाओ ॥१९४॥

संस्कृत छाया :-

एतन्मम प्रत्यक्षं सर्वमपि खलु श्वाशुरे वसन्त्याः ।
वृत्तं त्वयाऽपिश्रुतं आर्ये! लोकप्रवादात् ॥१९४॥

गुजराती अनुवाद :-

स प्रमाणे सासराभां रहेता में प्रत्यक्षपणे सर्व जाणेलुं छे। वली हे आर्ये!
लोक प्रवादथी तें पण वार्ता सांभळी हशे।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार ससुराल में रहती हुई मैंने प्रत्यक्ष ही सब कुछ जान लिया है।
और हे आर्ये ! लोकप्रवाद से आपने भी ये बातें सुनी होंगी।

गाहा :-

एसो गह-गहिय-नरो दीसइ सरिसो उ राय-उत्तस्स ।

ता एसो कणगरहो एसावि सुलोयणा नूणं ॥१९५॥

संस्कृत छाया :-

एष ग्रह-गृहीत-नरो दृष्यते सदृशस्तु राजपुत्रस्य ।

तस्मादेष कनकरथ, एषाऽपि सुलोचना नूनम् ॥१९५॥

गुजराती अनुवाद :-

अने आ पागल जेवो माणस राजपुत्र जेवो ज देखाय छे, तेथी जरुठ
आ कनकरथ राजा अने आ सुलोचना ज छे'।

हिन्दी अनुवाद :-

और यह पागल जैसा आदमी राजपुत्र ही लगता है, अतः अवश्य ही यह
कनकरथ राजा और यह सुलोचना ही है।

(ओळखाया)

गाहा :-

भणियमणंगवईए संभासेमो इमं तु निय-भगिणिं ।

किं अम्हे परियाणइ, अहवाविअ भंभला एसा? ॥१९६॥

संस्कृत छाया :-

भणितमनङ्गवत्या सम्भाषयावः इमां तु निजभगिनीम् ।

किमावां परिजानाति अथवाऽपि च भंभला एषा ॥१९६॥

गुजराती अनुवाद :-

अनंगवती बोलो, 'चालो आपणे आपणी आ चहेनने चोलावीस, आपणने

ते ओलखे छे के नही- अथवा शुं तेणी पण गांडी थई छे?

हिन्दी अनुवाद :-

अनंगवती बोली, 'चलो हम अपनी इस बहन को बुलाते हैं, हमें वह पहचानती है या नहीं- अथवा क्या वह भी पागल हो गई है।

(पागल बहने सुलोचनाने गुरुजी पासे लइ जवुं)

गाहा :-

तत्तो गंतुं दोहिवि महुरं आभासियावि सा जाहे ।

नवि जाणइ किंचि फुडं बोल्लइ य बहु-असंबद्धं ॥१९७॥

ताहे दोवि जणाइं सुधम्म-सूरिस्स पाय-मूलम्मि ।

करुणा-पराहिं अज्जाहिं ताहि नीयाइं सविसायं ॥१९८॥

(युग्मम्)

संस्कृत छाया :-

ततो गत्वा द्वाभ्यामपि मधुरमाभाषिताऽपि सा यदा ।

नापि जानाति किञ्चित् स्फुटं कथयति च बहु-असम्बद्धम् ॥१९७॥

तदा द्वावपि जनौ सुधर्मसूरेः पादमूले ।

करुणा पराभ्यामार्याभ्यां तदा नीतौ सविषादम् ॥१९८॥ युग्मम्)

गुजराती अनुवाद :-

त्यारबाद त्यां जइने ते चने चने वडे ते ज्याटे बोलावाई त्याटे ते जराय ओलखी न शकी अने जेम-तेम बहु बोलवा लागी। त्यारपछी करुणासभर चने साध्वीओं द्वारा दुःखपूर्वक ते चने ने श्री सुधर्मसूरिजीनां चरण-कमलमां लई जवाइ।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद वहाँ जाकर उन दोनों बहनों के द्वारा वह जब बुलाई गई, तब वह जरा भी पहचान नहीं सकी और अनाप-शनाप बोलने लगी। उसके बाद करुणाभरी दोनों साध्वियों के द्वारा दुःखपूर्वक उन दोनों को श्री सुधर्मसूरिजी के चरणकमल में लाया गया।

गाहा :-

भणिओ अज्जाहिं गुरू एसा अम्हाण जिठु-भगिणी ओ ।

किं होइ नवा भयवं! जाया उम्मत्तिया कह वा? ॥१९९॥

संस्कृत छाया :-

भणित आर्याभ्यां गुरुरेषा आवयोज्येष्ठ-भगिनी ओ ! ।

किं भवति न वा भगवन्! जातोन्मत्ता कथं वा? ॥१९९॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यां जइने बंने साध्वीजीस कहयुं, हे गुरु महाराज! आ अमाची मोटी बहेन छे के नहीं? अने जो ते होय तो सनी आवी उन्मत्तदशा शायी थई छे?

हिन्दी अनुवाद :-

वहाँ जाकर दोनों साध्वीजी ने कहा, 'हे गुरु महाराज! यह हमारी बड़ी बहन है या नहीं? और यदि ऐसा है तो इसकी ऐसी उन्मत्तदशा क्यों हुई है?'

(गुरुजी द्वारा समाधान)

गाहा :-

भणियं गुरुणा ततो नाणेण वियाणिऊण परमत्थं ।

सच्चिय सुलोयणा सा कणगरहो एस जुवराया ॥२००॥

संस्कृत छाया :-

भणितं गुरुणा ततो ज्ञानेन विज्ञाय परमार्थम् ।

सैव, सुलोचना सा कनकरथ एष युवराजः ॥२००॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यारबाद गुरुस ज्ञान वडे परामार्थने जाणीने कहुं, 'तेमज छे आ खरेखर सुलोचना ज छे अने आ कनकरथ युवराज छे।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद गुरु ने ज्ञान के द्वारा परमार्थ को जानकर कहा, 'ऐसा ही है, यह सचमुच सुलोचना ही है और यह कनकरथ युवराज है'।

(शौक्य द्वारा उपसर्ग)

गाहा :-

जोगो मइ-मोहकरो सीसे खित्तो इमाण सुत्ताण ।

एक्काए सवत्तीए ईसा-वस-गाढ-कुब्धाए ॥२०१॥

संस्कृत छाया :-

योगो मति-मोहकरः शीर्षे क्षिप्तोऽनयोः सुप्तयोः ।

एकया सपत्न्या ईर्ष्यावशात्कृन्द्या ॥२०१॥

गुजराती अनुवाद :-

सूतेला खा आ चनेना मस्तक उपर ईर्ष्या वडे क्रोथायमान थयेली
सक शोकपत्नी वडे मतिभ्रम करनाए चूर्ण नखायुं छे।

हिन्दी अनुवाद :-

सोए हुए इन दोनों के मस्तक पर ईर्ष्या के कारण क्रोधित किसी शोकपत्नी
के द्वारा मतिभ्रम करनेवाला चूर्ण डाल दिया गया है।

(पिता द्वारा वैद्यो बोलावाया)

गाहा :-

तस्स वसेणं दोणहवि मइ-संमोहो इमाण संजाओ ।

रत्ना य तओ विज्जा बहवे सहाविआ तत्थ ॥२०२॥

संस्कृत छाया :-

तस्य वशेन द्वयोरपि मति-सम्मोहोऽनयोःसञ्जातः ।

राज्ञा च ततो वैद्या बहवः शब्दापितास्तत्र ॥२०२॥

गुजराती अनुवाद :-

ते चूर्णनि कारणे आ चनेनी मति भ्रमित थई गई छे, तेथी तेना पिताए
पण घणा वैद्योने बोलाव्या।

हिन्दी अनुवाद :-

उस चूर्ण के कारण इन दोनों की मति भ्रमित हो गई है, अतः इनके पिता
ने भी बहुत से वैद्यों को बुलवाया।

(रक्षकोनो प्रमाद)

गाहा :-

न य केणवि पउणाइं कयाइं कालेण रक्खग-नराण ।

कहवि पमाय-पराणं नीहरियाइं इमाइं तु ॥२०३॥

संस्कृत छाया :-

न च केनाऽपि प्रगुणौ कृतौ कालेन रक्षकनरेषु ।
कथमपि प्रमादपरेषु निःसृतौ इमौ तु ॥२०३॥

गुजराती अनुवाद :-

कोइपण वैद्यो वडे तेओ साजा न करपाया अने क्यारेक रक्षक पुरुषोनां
प्रमादने कारणे ते बंने (त्यांथी) नीकली गया।

हिन्दी अनुवाद :-

किसी भी वैद्य के द्वारा वे स्वस्थ नहीं किए गए और किसी समय रक्षक
पुरुषों के प्रमाद के कारण वे दोनों वहाँ से निकल गए।

(विनंती)

गाहा :-

भणियं च वसुमईए भयवं! एयाण मूढ-चित्ताणं ।
जइ पेच्छह उवयारं, पडिजोगं देह चिंतेउं ॥२०४॥

संस्कृत छाया :-

भणितं च वसुमत्या भगवन्! एतयोर्मूढ-चित्तयोः ।
यदि पश्यत उपकारं प्रतियोगं देहि चिन्तयित्वा ॥२०४॥

गुजराती अनुवाद :-

वसुमती वडे कहेवायुं हे गुरु भगवंत! मूढ थयेला आ बंनेनो कोई
उपकार आप जोता हो तो विचार करीने तेने दूर करनार (प्रतिचूर्ण) आपो।

हिन्दी अनुवाद :-

वसुमती के द्वारा कहा गया- हे गुरु भगवन्त! मूढ़ हुए इन दोनों का कोई
उपकार यदि आप जानते हैं तो विचार कर उसे दूर करनेवाला (प्रतिचूर्ण) प्रदान
करें।

गाहा :-

ततो गुरुणा तेसिं दिन्नो उम्माय-नासण-पडिट्टो ।
पडिजोगो, जायाइं दोणिवि अह सत्थ-चित्ताइं ॥२०५॥

संस्कृत छाया :-

ततो गुरुणा तयो दत्त उन्माद-नाशन-पटिष्ठः ।
प्रतियोगो जातौ द्वावपि अथ स्वस्थचितौ ॥२०५॥

गुजराती अनुवाद :-

त्याचे गुरु महाराज वडे ते बबबेने मतिमोहनो नाश करवामां बलवान
स्वुं प्रतिचूर्ण अपायुं, जेथी तेओं बबबे पण स्वस्थ-चित्तवाला थया।

हिन्दी अनुवाद :-

तब गुरु महाराज के द्वारा उन दोनों के मतिमोह को नाश करने में बलवान
प्रतिचूर्ण दिया गया, जिससे वे दोनों भी स्वस्थचित्त वाले हो गए।

(सुलोचना का विस्मय)

गाहा :-

दट्टूण भगिणि-जुयलं सुलोयणा विम्हिया इमं भणइ ।

किं नाम इमं सुमिणं किंवा मइ-विम्भमो एस? ॥२०६॥

संस्कृत छाया :-

दृष्ट्वा भगिनी-युगलं सुलोचना विस्मिता इदं भणति ।

किं नाम इदं स्वप्नं किं वा मतिविभ्रम एषः ? ॥२०६॥

गुजराती अनुवाद :-

त्याचपछी सुलोचना पोतानी बबबे बहेनेने जोइने आश्चर्य पावेली आ
प्रमाणे कहे छे, 'अरे! शुं आ स्वप्न छे के आ माची बुद्धिनो विभ्रम छे?

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद सुलोचना अपनी दोनों बहनों को देखकर आश्चर्यचकित हो कर
इस प्रकार कहती है, 'अरे! क्या यह स्वप्न है या यह मेरी बुद्धि का विभ्रम है'?

गाहा :-

सा कथ्थ अम्ह नयरी सा य विभूर्इ य ते अलंकारा ।

कह धूलि-धूसराइं इह म्हि (म्हो?) संपावियाइं ति? ॥२०७॥

संस्कृत छाया :-

सा कुत्रावयो नगरी सा च विभूतिश्च तेऽलङ्काराः ।

कथं धूलि-धूसरौ इह स्वः स्मप्रापितौ इति ॥२०७॥

गुजराती अनुवाद :-

ते अमाची नगरी क्थां? ते वैभव-ते अलंकारो क्थां? अम्ने धूल वडे
खरडायेलीं केवी चीते बनावायी?

हिन्दी अनुवाद :-

हमारी वह नगरी कहाँ है? वह वैभव, वे अलंकार कहाँ हैं? हम किस प्रकार धूल से धूसरित हो गए हैं?

गाहा :-

दोन्निवि गहिय-वयाओ कथ्य व भगिणीओ मज्झ इहइं तु? ।
ता नूण इंदयालं एयं अहवावि सुमिणंति ॥२०८॥

संस्कृत छाया :-

द्वेऽपि गृहीत-व्रते कुत्र वा भगिन्यौ ममेह तु? ।
तस्माद् नूनं इन्द्रजालमेत-दथवाऽपि स्वप्नमिति ॥२०८॥

गुजराती अनुवाद :-

तेमज दीक्षित थयेली आ मारी चंने भगिनीओ अहीं क्याथी? माटे जरूर
आ इंद्रजाल अथवा स्वप्न छे'

हिन्दी अनुवाद :-

तथा दीक्षित हुई ये मेरी दोनों बहनें यहाँ कैसे? अतः अवश्य ही कोई
इन्द्रजाल है या स्वप्न है।

(वसुमतीनो खुलासो)

गाहा :-

तत्तो य वसुमईए कहियं उम्माय-कारणं सव्वं ।
जाव य गुरु-माहप्या नट्टो तुम्हाण उम्माओ ॥२०९॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च वशुमत्या कथितमुन्माद-कारणं सर्वम् ।
यावच्च गुरु माहात्म्यान्नट्टो युवयोरुन्मादः ॥२०९॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यारखाद वसुमती वडे उन्मादनुं सर्व कारण तथा गुरु महाराजना
प्रभावथी तमारु चंनेनो उन्माद नष्ट थयो त्यां सुधीनो सघळो वृत्तांत जणावायो।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद वसुमती के द्वारा उन्माद का सारा कारण तथा गुरु महाराज के
प्रभाव से तुम दोनों का उन्माद नष्ट हुआ है, वहाँ तक का सारा वृत्तान्त बतलाया।

(धनपतिदेव द्वारा प्रतिबोध-दीक्षा)

गाहा :-

जइया य तुमं भद्दे! छूढा अंतेउरम्मि जुवरन्ना ।
तइयच्चिय खयरेणं मायाइ सुमंगलेण अहं ॥२१०॥
भुक्ता पभूय-कालं धणवइ-देवेण बोहिया तत्तो ।
जाया चंदजसाए पय-मूले सुयणु! पव्वइया ॥२११॥ (युग्मम्)

संस्कृत छाया :-

यदा च त्वं भद्रे! क्षिप्ताऽन्तःपुरे युवराजेन ।
तदैव खचरेण मायया सुमङ्गलेनाऽहम् ॥२१०॥
भुक्ता प्रभूतकालं धनपतिदेवेन बोधिता ततः ।
जाता चन्द्रयशायाः पादमूले सुतनो! प्रव्रजिताः ॥२११॥ (युग्मम्)

गुजराती अनुवाद :-

तथा हे भद्रे! ज्यारे कनकरथ युवराज वडे तने अंतःपुरमां रखाइ
त्यारे ज मायापूर्वक सुमंगल विद्याधर वडे हुं घणो समय भोगवाई त्यारपछी
धनपति देव वडे (प्रतिबोध पमाडायेली) हुं हे सुतनु! चन्द्रयशा साध्वीना
चरण-कमलमां दीक्षित थीं।

हिन्दी अनुवाद :-

तथा हे भद्रे! जब कनकरथ युवराज के द्वारा उस अन्तःपुर में रखी गई, तब
मायापूर्वक सुमंगल विद्याधर के द्वारा मैं बहुत समय तक भोगी गई, उसके बाद
धनपति देव के द्वारा (प्रतिबोध दी गई) मैं हे सुतनु! चन्द्रयशा साध्वी के चरण
कमलों में दीक्षित हो गई।

(अनंगवती-धनवाहननी दीक्षा)

गाहा :-

एसावि अणंगवई धम्मं सोऊण भव-भयुव्विग्गा ।
निय-भत्तुणा समेया पव्वइया एत्थ गच्छम्मि ॥२१२॥

संस्कृत छाया :-

एषाऽपि अनङ्गवती धर्मं श्रुत्वा भव-भयोद्विग्ना ।
निजभर्त्रा समेता प्रव्रजिताऽत्र गच्छे ॥२१२॥

गुजराती अनुवाद :-

आ अनंगवती पण धर्म सांभलीने संसारनां भयथी उद्विग्न बनेली पोतानां पतिनी साथे आ ज गच्छमां दीक्षित थई।

हिन्दी अनुवाद :-

यह अनंगवती भी धर्म को सुनकर संसार के भय से उद्विग्न होकर अपने पति के साथ इसी गच्छ में दीक्षित हुई।

गाहा :-

ता सुयणु! न सुविणमिणं सच्चं चियं जं तुमे इमं दिट्ठं ।
एसो सो अम्ह गुरु सुधम्म-नामो महा-सत्तो ॥२१३॥

संस्कृत छाया :-

तस्मात् सुतनो! न स्वप्नमिदं, सत्यमेव यत् त्वयेमं दृष्टमं दृष्टम् ।
एष स आवयो गुरुः सुधर्मनामा महासत्त्वः ॥२१३॥

गुजराती अनुवाद :-

तेथी हे सुत! आ स्वप्न नथी, ताचा वडे जे जोवायुं ते सत्य ज छे।
अने ते आ महासात्त्विक सुधर्म नामे अमाचा गुरु छे।

हिन्दी अनुवाद :-

अतः हे सुत! यह स्वप्न नहीं है, तेरे द्वारा जो देखा गया, वह सत्य ही है
और वे महासात्त्विक सुधर्म नामक हमारे गुरु हैं।

गाहा :-

तत्तो दोवि जणाइं सुधम्म-सूरिस्स परम-विणएणं ।
वंदंति हरिसियाइं पय-कमलं सयल-दोस-हरं ॥२१४॥

संस्कृत छाया :-

ततो द्वावपि जनौ सुधर्मसुरैः परमविनयेन ।
वन्देते हर्षितौ पदकमलं सकलदोषहरम् ॥२१४॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यारपछी खुश थयेला ते चंन्ने स सुधर्मसूरिजीनां, समस्त दोषने हरनार
स्वा चरण-कमलमां परम विनयपूर्वक वंदन कर्या।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद खुश होकर उन दोनों ने समस्त दोषों को हरण करनेवाले सुधर्मसूरिजी के चरण कमलों में अत्यन्त विनयपूर्वक वन्दन किया।

(कनकरथ तथा सुलोचनानी दीक्षा)

गाहा :-

तत्तो संवेयकरिं गुरुणो सोऊण देसणं पवरं ।

पडिबुद्धाइं दोन्निवि कमेण पव्वाइयाइंति ॥ २१५ ॥

संस्कृत छाया :-

ततः संवेगकरीं गुरोः श्रुत्वा देशनां प्रवराम् ।

प्रतिबुद्धौ द्वावपि क्रमेण प्रव्राजिताविति ॥ २१५ ॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यारब्बाद संवेगकारक गुरुनी श्रेष्ठ देशना (उपदेश) सांभलीने वैराग्य पावेल्ला ते बह्ने दिक्षित कचाया।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद संवेगकारक गुरु की श्रेष्ठ देशना (उपदेश) सुनकर वैराग्य प्राप्त कर उन दोनों ने दीक्षा ग्रहण किया।

गाहा :-

मयहरियाए पासे भगिणी-जुअलेण संजुया तत्तो ।

संजम-गुरु-विणय-रया सुलोयणा कुणइ विविह-तवं ॥ २१६ ॥

संस्कृत छाया :-

महत्तरायाः पाश्वे भगिनीयुगलेन संयुता ततः ।

संयम-गुरु-विनय-रता सुलोचना करोति विविध तपः ॥ २१६ ॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे पोतानी बह्ने बहेनो साथे महत्तरा साध्वीनी पासे (निश्रामा) संयम तथा गुरु विनयमांतत्पट खी सुलोचना विविध तप करे छे।

हिन्दी अनुवाद :-

अब अपनी दोनों बहनों के साथ महत्तरा साध्वी के पास (निश्रामा में) संयम तथा गुरु विनय में तत्पर ऐसी सुलोचना विविध प्रकार के तप करती है।

गाहा :-

एवं चंदजसाए पय-मूले ताण अच्छमाणाणं ।

तिणहंपि हु भगिणीणं वोलीणा वासरा बहवे ॥२१७॥

संस्कृत छाया :-

एवं चन्द्रयशायाः पादमूले तासामासीनानाम् ।

तिसुणामपि खलु भगिनीनां गता वासरा बहवः ॥२१७॥

गुजराती अनुवाद :-

आ प्रमाणे चंद्रयशा साध्वीजीनां चरण-कमलमां रहेली ते त्रणे बहेनोना घणा दिवसो पसार थया।

हिन्दी अनुवाद :-

इस प्रकार चन्द्रयशा साध्वी के चरण कमलों में रहती हुई उन तीनों बहनों के बहुत दिन व्यतीत हो गए।

(मुनि कनकरथ तथा मुनि धनवाहनने बहु स्नेह)

गाहा :-

मुणिणो कणगरहस्स उ धणवाहण-साहुणो य संजाओ ।

भो चित्रवेग! तइया अन्नोन्नं गरुय-नेहोत्ति ॥२१८॥

संस्कृत छाया :-

मुनेः कनकरथस्य तु धनवाहनसाधोश्च सज्जातः ।

भोः चित्रवेग! तदाऽन्योन्यं गुरुकस्नेह इति ॥२१८॥

गुजराती अनुवाद :-

हे चित्रवेग! पछी कनकरथ मुनि तथा धनवाहन मुनिनो परस्पर बहु ज स्नेह थयो।

हिन्दी अनुवाद :-

हे चित्रवेग! उसके बाद कनकरथ मुनि तथा धनवाहन मुनि का परस्पर बहुत स्नेह हुआ।

गाहा :-

पंच-महव्वय-जुत्ता समिई-गुत्तीसु सम्ममुवउत्ता ।

नाणाविहं-तव-निरया गिणहंति य सुत्त-अत्थाइं ॥२१९॥

संस्कृत छाया :-

पञ्चमहाव्रतयुक्तौ समिति-गुप्तिषु सम्यगुपयुक्तौ ।

नानाविध तपो निरतौ गृह्यतश्च सूत्रार्थानि ॥२१९॥

गुजराती अनुवाद :-

पंचमहाव्रत पालनमां रक्त, समिति-गुप्तिनां पालनमां सावधान, विविध तपमां परायण ते च्छे मुनिओर (गुरु समीपे) सूत्र तथा अर्थग्रहण कर्या।

हिन्दी अनुवाद :-

पंच महाव्रत के पालन में लीन, समिति-गुप्ति के पालन में सावधान, विविध तप में परायण उन दोनों मुनियों ने (गुरु के समीप) सूत्र और अर्थ ग्रहण किया।

गाहा :-

गुरु-आणाए निरया दोत्रिवि पालेंति चरण-करणाइं ।

एवं पभूय-कालो वोलीणो ताव दोणहंपि ॥२२०॥

संस्कृत छाया :-

गुर्वाज्ञायां निरतौ द्वावपि पालयतश्चरणकरणानि ।

एवं प्रभूत-कालो गतस्तावद् द्वयोरपि ॥२२०॥

गुजराती अनुवाद :-

गुर्वाज्ञामां हमेशा रत-चरण अने करणनी १४० प्रकारना साधुना आचारोनी पालनामां तत्पर खा ते च्छे महात्मानो घणो काल पसाट थयो।

हिन्दी अनुवाद :-

गुरु की आज्ञा में सदा रत, चरण और करण के १४० प्रकार के साधु के आचारों के पालन में तत्पर ऐसे उन दोनों महात्माओं ने बहुत समय व्यतीत किए।

(सुधर्मसूरिनो कालधर्म)

गाहा :-

अह अन्नया कयाइवि थोवं निय-आउयं मुणेऊणं ।

सूरी संलिहिय-तणू अणसण-विहिणा मओ सम्मं ॥२२१॥

संस्कृत छाया :-

अथान्यदा कदाचिदपि स्तोकें निजाऽऽयुषं ज्ञात्वा ।

सूरिः संलिखिततनुरनशन-विधिना मृतः सम्यक् ॥२२१॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे एक वखत पोतानुं आयुष्य अल्प जाणीने सुधर्मसूरिजीस (संलेखना) अंतीम आराधना कयी अे अनशन करीने विधि वडे सायी रीते कालधर्म (मृत्यु) पाव्या।

हिन्दी अनुवाद :-

अब एक बार अपना आयु कम जानकर सुधर्मसूरिजी ने (संलेखना) अन्तिम आराधना किया और अनशन करके विधिपूर्वक भली-भांति कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त किया।

(धनवाहन शशिप्रभनो सामानिक देव विद्युत्प्रभ)

गाहा :-

बीयम्मि देव-लोगे पवरे चंदज्जुणो विमाणम्मि ।

जाओ विमाण-सामी देवो उ ससिप्पभो नाम ॥२२२॥

संस्कृत छाया :-

द्वितीये देवलोके प्रवरे चन्द्रार्जुने विमाने ।

जातो विमान-स्वामी देवस्तु शशिप्रभो नाम ॥२२२॥

गुजराती अनुवाद :-

धीजा देवलोकमां श्रेष्ठ चंद्रार्जुन नामना विमानमां विमानना मालिक शशिप्रभ नामना देव रूपे उत्पन्न थया।

हिन्दी अनुवाद :-

दूसरे देवलोक में श्रेष्ठ चन्द्रार्जुन नामक विमान में विमान के मालिक शशिप्रभ नामक देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

गाहा :-

धणवाहणोवि साहू अतुट्ट-रागो चरित्तु सामन्नं ।

कालं काउं विहिणा उप्पन्नो बीय-कप्पम्मि ॥२२३॥

संस्कृत छाया :-

धनवाहनोऽपि साधुरनुदितरागश्चरित्वा श्रामण्यम् ।

कालं कृत्वा विधिनोत्पन्नो द्वितीय-कल्पे ॥२२३॥

गुजराती अनुवाद :-

नहीं तोडेला रागवाला धनवाहन साधु पण साधुपणानुं पालन करीने विधिपूर्वक समाधि वडे काल करीने बीजा देवलोकमां उत्पन्न थया।

हिन्दी अनुवाद :-

नहीं तोड़े हुए रागवाले धनवाहन साधु भी साधुत्व का पालन कर विधिपूर्वक समाधि के द्वारा काल कर (मृत्यु को प्राप्त कर) दूसरे देवलोक में उत्पन्न हुआ।

गाहा :-

सामाणिय-ठाणम्मि देवस्स ससिप्पहस्स सो जाओ ।

भासुर-सरीरधारी देवो विज्जुप्पहो नाम ॥२२४॥

संस्कृत छाया :-

सामानीक-स्थाने देवस्य शशिप्रभस्य स जातः ।

भासुरशरीरधारी देवो विद्युत्प्रभो नाम ॥२२४॥

गुजराती अनुवाद :-

अने ते शशिप्रभ देवनभो तेजस्वी शरीरवालो विद्युत्प्रभ नामनो सामानिक स्थानीय देव थयो।

हिन्दी अनुवाद :-

और वह शशिप्रभ देव के समान तेजस्वी शरीरवाला विद्युत्प्रभ नामक सामानिक स्थानीय देव हुआ।

(अनंगवती ते विद्युत्प्रभनी चंद्रलेखा देवी)

गाहा :-

सावि हु अणंगवइया अविगय-रागा चरित्तु सामन्नं ।

विज्जुप्पहस्स जाया देवी अह चंदरेहत्ति ॥२२५॥

संस्कृत छाया :-

साऽपि खल्वनङ्गवत्यविगतरागा चरित्वा श्रामण्यम् ।

विद्युत्प्रभस्य जाता देव्यथ चन्द्रलेखा इति ॥२२५॥

गुजराती अनुवाद :-

नहीं त्यजेला रागवाली ते अनंगवति पण साधुपणुं पालीने विद्युत्प्रभ देवनी चंद्रलेखा नामनी देवी थई।

हिन्दी अनुवाद :-

नहीं त्यागे हुए रागवाली वह अनंगवती भी, साध्वी के व्रतों का पालन करती हुई विद्युत्प्रभ देव की चन्द्रलेखा नाम की देवी हुई।

(सुबंधुना जीव अग्निकुमारदेवे कनकरथ-सुलोचनाने हणया)

गाहा :-

संभरिय पुव्व-वेरं बहूवसग्गे करित्तु अइभीमे ।

अग्गि-कुमार-सुरेणं सुबंधु-जीवेण पावेण ॥ २२६ ॥

कणगरहो सो साहू सुलोयणाए समं तु अज्जाए ।

निहओ तं उवसग्गं विसहंतो सम्म-भावेण ॥ २२७ ॥

कालं काउं दोन्निवि उववन्नाइं तु बिय-कप्पम्मि ।

चंदज्जुणे विमाणे सामाणिय-देव-भावेण ॥ २२८ ॥

त्रिभिः कुलकम् ॥

संस्कृत छाया :-

संस्मृत्य पूर्ववैरं बहूपसर्गान् कृत्वा अतिभीमान् ।

अग्निकुमार-सुरेण सुबन्धुजीवेन पापेन ॥ २२६ ॥

कनकरथः स साधुः सोलुचनया समं त्वार्यया ।

निहतस्तमुपसर्गं विसहन् सम्यग् भावेन् ॥ २२७ ॥

कालं कृत्वा द्वावपि उत्पन्नौ तु द्वितीयकल्पे ।

चन्द्रार्जुने विमाने सामानिकदेवभावेन ॥ २२८ ॥ त्रिभिः कुलकम्

गुजराती अनुवाद :-

सुबंधुना जीव पापी अग्निकुमार देव वडे पूर्वभवनुं वैर स्मरण करीने अतिभयंकट घणा उपसर्ग करीने आर्या सुलोचनानी साथे कनकरथ साधु हणाया। ते उपसर्गोनि भावथी साटी रीते सहन करता-काल करीने ते ब्रह्मे सुलोचना अने कनकरथ बीजा देवलोकमां चन्द्रार्जुन नामनां विमानमां सामानिक देव तरीके उत्पन्न थया।

हिन्दी अनुवाद :-

सुबंधु का जीव पापी अग्निकुमार देव के द्वारा पूर्वभव के वैर का स्मरण कर अत्यन्त भयंकर बहुत से उपसर्ग करके आर्या सुलोचना के साथ कनकरथ साधु मारा गया। उन उपसर्गों को भावपूर्वक सम्यक् भाव से सहन करते हुए काल करके (मृत्यु

को प्राप्त कर) वे दोनों सुलोचना और कनकरथ दूसरे देवलोक में चन्द्रार्जुन नामक विमान में सामानिक देव के रूप में उत्पन्न हुए।

गाहा :-

कणगरहो ओ विहुप्पह-नामो इयरा सयंपभा नाम ।

सावि तइज्जा भगिणी वसुमइया आउय-खयम्मि ॥२२९॥

पुव्व-दइयस्स जाया चंदज्जुण-नामगस्स देवस्स ।

तत्थेव किल विमाणे देवी चंदप्पभा नाम ॥२३०॥ (युग्मम्)

संस्कृत छाया :-

कनकरथ ओ! विद्युप्रभनामा इतरा स्वयंप्रभा नाम ।

साऽपि तृतीया भगिनी वसुमती आयुः क्षये ॥२२९॥

पूर्वदधितस्य जाता चन्द्रार्जुन-नामकस्य देवस्य ।

तत्रैव किल विमाने देवी चन्द्रप्रभा नाम ॥२३०॥ (युग्मम्)

गुजराती अनुवाद :-

कनकरथ राजानो जीव विद्युप्रभ नामे देव तथा सुलोचना जे स्वयंप्रभा नामे देवी हती तथा त्रीजी ते बहेन वसुमती पण आयुष्य पूर्ण थये छते-पूर्वभवना पति चंद्रार्जुन नामना देवनी ते ज विमानमां चंद्रप्रभा नामनी देवी तरीके उत्पन्न थई।

हिन्दी अनुवाद :-

कनकरथ राजा का जीव विद्युप्रभ नामक देव तथा सुलोचना जो स्वयंप्रभा नामकी देवी थी तथा तीसरी बहन वसुमती भी आयुष्य पूर्ण होने पर पूर्वभव के पति चन्द्रार्जुन नामक देव के उसी विमान में चन्द्रप्रभा नाम की देवी के रूप में उत्पन्न हुई।

गाहा :-

एवं एग-विमाणे दिव्व-सुहं ताण अणुहवंताणं ।

सव्वेसिं अन्नोन्नं अइगरुया आसि पीईओ ॥२३१॥

संस्कृत छाया :-

एवमेक-विमाने दिव्यसुखं तेषामनुभवताम् ।

सर्वेषां अन्योन्य-मतिगुर्व्य आसन् प्रीतयः ॥२३१॥

गुजराती अनुवाद :-

हवे एक ज विमानमां दिव्य सुखनो अनुभव करता तेओ सर्वेनी
पटस्पट गाढ़ प्रीति हती।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद एक ही विमान में दिव्य सुख का अनुभव करते हुए उन सबों
में परस्पर प्रगाढ़ प्रेम था।

गाहा :-

पलिओवमाणि अद्दु उ दिव्व-सुहं तत्थ अणुहवेऊणं ।

देवो विज्जुप्पहो सो चइऊण इमम्मि वेयइढे ॥ २३२ ॥

संस्कृत छाया :-

पल्योपमान्यष्टौ तु दिव्यसुखं तत्रानुभूय ।

देवो विद्युत्प्रभः स च्युत्वा अस्मिन् वैताढ्ये ॥ २३२ ॥

गुजराती अनुवाद :-

त्यां आठ पल्योपम देवलोकना दिव्य सुखनो अनुभव करीने विद्युत्प्रभ
देव च्यवीने आ वैताढ्य पर्वतनी-

हिन्दी अनुवाद :-

वहाँ आठ पल्योपम देवलोक के दिव्य सुखों का अनुभव कर विद्युत्प्रभ देव
च्यवन कर इस वैताढ्य पर्वत की-

(विद्युत्प्रभदेवनो चित्रवेग रूपे जन्म)

गाहा :-

दक्खिण-सेढीइ पुरे रमणीए रयणसंचए पवरे ।

पवणगइ-खयर-पुत्तो उप्पन्नो बउलवइयाए ॥ २३३ ॥

संस्कृत छाया :-

दक्षिणश्रेण्यां पुरे रमणीये रत्नसञ्चये प्रवरे ।

पवनगतिखचरपुत्र उत्पन्नो बकुलवत्याम् ॥ २३३ ॥

गुजराती अनुवाद :-

दक्षिण श्रेणीमां मनोहट सवी रत्नसंचय नामना उत्तम नगरीमां
बकुलवतीने विषे पवनगति नो विद्याधर पुत्र थयो।

हिन्दी अनुवाद :-

दक्षिण श्रेणी में मनोहर रत्नसंचय नामक उत्तम नगरी में बकुलवती से पवनगति नाम का विद्याधर पुत्र हुआ।

गाथा :-

एवं च ठिए

जो धनवाहण-जीवो देवो विद्युत्प्रभो य दिय-लोए ।

सो य तुमं इह सुंदर! उप्पन्नो चित्तवेगोत्ति ॥ २३४ ॥

संस्कृत छाया :-

एवं च स्थिते

यो धनवाहनजीवो देवो विद्युत्प्रभश्च दिवलोके ।

स च त्वमिह सुन्दर! उत्पन्नश्चित्रवेग इति ॥ २३४ ॥

गुजराती अनुवाद :-

आवी परिस्थिति थये छते देवलोकमां धनवाहननो जीव जे विद्युत्प्रभ देव हतो हे सुंदर! ते ज तुं अहीं चित्रवेग तचीके उत्पन्न थयो छे।

हिन्दी अनुवाद :-

ऐसी परिस्थिति होने पर भी देवलोक में धनवाहन का जीव, जो विद्युत्प्रभ जीव था, हे सुन्दर! वही तू यहाँ चित्रवेग के रूप में उत्पन्न हुआ है।

(कुंजरावर्तमां-चंद्रलेखा देवीनो कनकमाला रूपे जन्म)

गाथा :-

देवीवि चंदरेहा ततो आउक्खाए चुया संती ।

उप्पन्ना वेयङ्गे नयरे सिरि-कुंजरावत्ते ॥ २३५ ॥

संस्कृत छाया :-

देव्यपि चन्द्रलेखा तत आयुः क्षये च्युता सति ।

उत्पन्ना वैताढ्ये नगरे श्रीकुञ्जरावर्ते ॥ २३५ ॥

गुजराती अनुवाद :-

त्याए पछी चंद्रलेखा देवी पण आयु पूर्ण थये छते त्याथीं च्यवेली वैताढ्य पर्वत उपर कुंजरावर्त नगरमां उत्पन्न थई।

हिन्दी अनुवाद :-

उसके बाद चन्द्रलेखा देवी भी आयु पूर्ण होने के बाद वहाँ से च्यवन कर

वैताढ्य पर्वत के ऊपर कुंजरावर्त नगर में उत्पन्न हुई।

गाहा :-

खयरस्स अमियगइणो पियाए भज्जाए चित्तमालाए ।
कुच्छीए संभूया पिय-धूया कणगमालत्ति ॥ २३६ ॥

संस्कृत छाया :-

खचरस्यामितगतेः प्रियाया भार्यायाश्चित्रमालायाः ।
कुक्षौ सम्भूता प्रियदुहिता कनकमालेति ॥ २३६ ॥

गुजराती अनुवाद :-

अमितगति विद्याधरनी चित्रमाला नामनी प्रिय पत्नीनीं कुक्षीमां
कनकमाला नामनी प्रिय पुत्री थीई।

हिन्दी अनुवाद :-

अमितगति विद्याधर की चित्रमाला नाम की प्रिय पत्नी की कोख से कनकमाला
नाम की प्रिय पुत्री हुई।

(पूर्वना रागनुं आवुं परिणाम)

गाहा :-

भो चित्तवेग! पुव्विं तुब्भं जो आसि राग-संबंधो ।
सामन्नमुवगयाणवि तस्स फलं एरिसं जायं ॥ २३७ ॥

संस्कृत छाया :-

भो! चित्रवेग! पूर्वं युवयो र्य आसीद् रागसम्बन्धः ।
श्रामण्यमुपगतयोरपि तस्य फलमीदृशं जातम् ॥ २३७ ॥

गुजराती अनुवाद :-

हे चित्रवेग! पूर्वभवमां श्रमणपणुं पामवा छातां पण तमाटा च्छेनी जे
परस्पर टाग संबंध हतो तेनुं आवुं फल मळ्युं।

हिन्दी अनुवाद :-

हे चित्रवेग! पूर्वभव में श्रमणत्व प्राप्त करके भी तुम दोनों का जो परस्पर
राग सम्बन्ध था, उसका यह फल मिला।

(रागने कारणे देवलोकमां पण अल्प रिद्धि अने अल्प आयुष्य)

गाहा :-

रूवं बलं च दिती रिद्धीवि य आसि थेविया तुम्ह ।
देव-भवे तुह आउं विमज्झिमं थेवयं आसि ॥ २३८ ॥

संस्कृत छाया :-

रूपं बलं च दीप्तिः रिद्धिरपि चासीत् स्तोकिका तव ।
देव-भवे तव आयुर्विमध्यम् स्तोक-मासीत् ॥ २३८ ॥

गुजराती अनुवाद :-

ते देव-भवमां रूप-बल-काति अे तारी ऋद्धि अल्प हती अने ताळं
आयुष्य पण विमध्यम-अल्प हतुं।

हिन्दी अनुवाद :-

उस देव भव में तेरा रूप-बल-कान्ति और ऋद्धि अल्प थी और तेरा आयुष्य
भी विमध्यम-अल्प था।

(अहीं पण असह्य वियोग)

गाहा :-

एत्थवि माणुस्स-भवे अवरोप्पर-दंसणाओ आरम्भ ।
दुसहं विओय-दुक्खं संजायं तुम्ह दोणहंपि ॥ २३९ ॥

संस्कृत छाया :-

अत्रापि मनुष्यभवे परस्पर-दर्शनादारभ्य ।
दुस्सहं वियोगदुःखं सञ्जातं युवयो द्वयोरपि ॥ २३९ ॥

गुजराती अनुवाद :-

अहीं पण आ मनुष्यभवमांपण तमारे बबेने परस्पर दर्शनीयी आरंभीने
असह्य सवुं वियोगनुं दुःख (भोगववुं पड्युं) थयुं।

हिन्दी अनुवाद :-

यहाँ इस मनुष्य भव में भी तुम दोनों के परस्पर दर्शन से आरम्भ कर असह्य
वियोग का दुःख (भोगना पड़ा) था।

गाहा :-

तुमएच्चिय अणुभूयं विओय-दुक्खं सुदूसहं जमिह ।
भो चित्तवेग! किंवा कहिएणं तेण तुह पुरओ? ॥२४०॥

संस्कृत छाया :-

त्वया एवानुभूतं वियोग-दुःखं सुदुःसहं यदिह ।
भो! चित्रवेग! किं वा कथितेन तेन तव पुरतः? ॥२४०॥

गुजराती अनुवाद :-

हे चित्रवेग! तारा वडे आ भवमां जे अति-दुःसह वियोगनुं दुःख
अनुभवयायुं छे, तें ताटी सम्मक्ष कहेवा वडे शुं?

हिन्दी अनुवाद :-

हे चित्रवेग! तुम्हारे द्वारा इस भव में जो अति दुःसह वियोग के दुःख का
अनुभव हुआ है, उसे तुम्हारे सामने कैसे कहा जाए?

गाहा :-

कारुणवि सामन्नं सराग-भावो तुमे न जं चत्तो ।
तस्स फलेणं एसा दूसहा तुहावया जाया ॥२४१॥

संस्कृत छाया :-

कृत्वाऽपि श्रामण्यं सराग-भावस्त्वया न यत् त्यक्तः ।
तस्य फलेन एषा दुःसहा तवापद जाता ॥२४१॥

गुजराती अनुवाद :-

मुनिपणु स्वीकारीने पण रागभाव तारा वडे जे न त्यजायो तेना फल
स्वरूप असह्य स्वी आपत्तिओ (प्राप्त) थई।

हिन्दी अनुवाद :-

श्रमणत्व को स्वीकार करके भी तेरे द्वारा रागभाव का त्याग नहीं किया गया,
जिसके फलस्वरूप ऐसी असह्य आपत्तियाँ (प्राप्त) हुई।

(चित्रगतिनुं वर्णन)

गाहा :-

देव- भवे तुह मित्तो चंदज्जुण-नामगो य जो आसि ।
चइरुण सोवि तत्तो चित्तगई एत्थ संजाओ ॥२४२॥

संस्कृत छाया :-

देवभवे तव मित्रं चन्द्रार्जुन-नामकश्च य आसीत् ।

च्युत्वा सोऽपि ततश्चित्रगति-रत्र सञ्जातः ॥२४२॥

गुजराती अनुवाद :-

देवभवमां चंद्रार्जुन नामनी जे ताचो मित्र हतो, ते पण त्यांथी च्यवीने चित्रगति थयो छे।

हिन्दी अनुवाद :-

देवभव में चन्द्रार्जुन नामक जो तेरा मित्र था, वह भी वहाँ से च्यवन कर चित्रगति हुआ है।

(वसुमती-चंद्रप्रभादेवी ते प्रियंगुमंजरी)

गाहा :-

वसुमई-नामा अज्जा देवी चंदप्पहा य दिय-लोए ।

सावि य पियंगुमंजरि-नामा इह भद्र! उप्पन्ना ॥२४३॥

संस्कृत छाया :-

वसुमति-नाम्नी आर्या देवी चन्द्रप्रभा च दिवल्लोके ।

साऽपि च प्रियङ्गुमञ्जरी-नाम्नी इह भद्र! उत्पन्ना ॥२४३॥

गुजराती अनुवाद :-

वसुमती नामनी साध्वी हती ते देवल्लोकमां चंद्रप्रभा नामनी देवी थई अने ते ज हे भद्र! प्रियंगुमंजरी नामे अहीं (आ लोकां) उत्पन्न थई।

हिन्दी अनुवाद :-

वसुमती नाम की साध्वी थी, वह देवलोक में चन्द्रप्रभा नाम की देवी हुई और वही हे भद्र! प्रियंगुमंजरी नाम से यहाँ (इस लोक में) उत्पन्न हुई।

(पूर्वभवनो मित्र)

गाहा :-

जं पुव्व-संगओ सो चित्तगई तेण तुम्ह संजाओ ।

अन्नोत्रं गुरु-नेहो सुंदर! सइ-दंसणेणांपि ॥२४४॥

संस्कृत छाया :-

यत् पूर्वसङ्गतः स चित्रगतिस्तेन तव सञ्जातः ।

अन्योन्यं गुरुस्नेहः सुन्दर! सकृद् दशनिनापि ॥२४४॥

गुजराती अनुवाद :-

हे सुंदर! ते चित्रगति पूर्व-भवमां ताचो मित्र हतो तेथी सकवारना दर्शनथी पण परस्पर गाढ स्नेह थयो।

हिन्दी अनुवाद :-

हे सुन्दर! वह चित्रगति पूर्वभव में तेरा मित्र था, इसलिए एक ही बार के दर्शन से भी दोनों में परस्पर प्रगाढ़ स्नेह हुआ।

(उपायपूर्वक कनकमालाने प्राप्त करावी)

गाहा :-

तेणं उवाय-पुव्वं घडिया सा तुज्झ कणगमाला ओ ।

इपिंह स-कम्म-वसओ जाओ तुह तीइ सह विरहो ॥२४५॥

संस्कृत छाया :-

तेनोपायपूर्वं घटिता सा तव कनकमाला ओ! ।

इदानीं स्वकर्मवशतो जातस्तव तथा सह विरहः ॥२४५॥

गुजराती अनुवाद :-

तथा ते चित्रगति वडे उपायपूर्वक ताची साथे कनकमालानो मेलाप करवायो। अने हालमां पोताना कर्मवशथी तेणी साथे ताचो विरह थयो छे।

हिन्दी अनुवाद :-

तथा उस चित्रगति के द्वारा उपायपूर्वक तेरे साथ कनकमाला का मिलाप कराया गया और वर्तमान में अपने कर्मवश से उसके साथ तेरा विरह हुआ है।

गाहा :-

भो चित्तवेग! बहुणा किं वा भणिण एत्थ अन्नेण? ।

जं चेव आसि पुट्टं तं चिय तुह ताव साहेमि ॥२४६॥

संस्कृत छाया :-

भो! चित्रवेग! बहुना किंवा भणितेनान्नान्येन ? ।

यदेवासीत् पृष्ठं तदेव तव तावत् कथयामि ॥२४६॥

गुजराती अनुवाद :-

हे चित्रवेग! हवे हालमां बहु कहेवा वडे शुं? जे पूछायुं हतुं तेनो ज जवाब आपु छुं।

हिन्दी अनुवाद :-

हे चित्रवेग! इस समय अधिक कहने से क्या प्रयोजन? जो पूछा गया था, उसी का जवाब दे रहा हूँ।

(कनकरथ-विधुप्रभ-प्रियमित्र-हजी देवलोकमां ज)

गाहा :-

कणगरहो सो साहू अइप्पिओ आसि तुज्झ अन्न-भवे ।
तत्तो य देव-लोए विहुप्पहो नाम जो देवो ॥२४७॥

संस्कृत छाया :-

कनकरथः स साधुरतिप्रियाऽऽसीत् तवान्यभवे ।
ततश्च देवलोके विधुप्रभो नाम यो देवः ॥२४७॥

गुजराती अनुवाद :-

ते कनकरथ नामना साधु के जे अन्य भवमां तने अतिप्रिय हता, ते ज देवलोकमां विधुप्रभ नामना जे देव हता-

हिन्दी अनुवाद :-

वह कनकरथ नामक साधु जो अन्य भव में तुझे अत्यन्त प्रिय था, उसी देवलोक में विधुप्रभ नामक जो देव था—

गाहा :-

सो य अहं तुह वल्लह-मित्तो अज्जवि तत्थ वसामि दिवम्मि ।
कारणमित्थमिमं तु पडुच्च मे अइ-संगयओ सि तुमंति ॥२४८॥

संस्कृत छाया :-

स चाहं तव वल्लभमित्रमद्यापि तत्र वसामि दिवे ।
कारणं इत्थमिदं तु प्रतीत्य ममातिसङ्गतकोऽसि त्वमिति ॥२४८॥

गुजराती अनुवाद :-

ते ज हुं ताएो प्रिय मित्र आजे पण देवलोकमां चहुं छुं। आ कारणथी ज तुं माएो प्रिय मित्र छे।

हिन्दी अनुवाद :-

मैं तुम्हारा वही प्रिय मित्र आज भी देवलोक में रहता हूँ। इसी कारण से तुम मेरे प्रिय मित्र हो।

गाहा :-

साहु- धणोसर- विरइय- सुबोह- गाहा- समूह- रम्माए ।

रागगिग- दोस- विसहर- पसमण- जल- मंत- भूयाए ॥ २४९ ॥

संस्कृत छाया :-

साधुधनेश्वरविरचित- सुबोधगाथासमूहरम्याम् ।

रागाग्निद्वेष- विषधरप्रशमन- जलमन्त्रभूतायाम् ॥ २४९ ॥

गुजराती अनुवाद :-

धनेश्वर मुनि वडे विरचित-सुबोध (साही चीते समजाय तेवी) गाथाना समूहथी रम्य-रागरूपी अग्नि तथा द्वेषरूपी सर्पनि शांत करवा माटे जल अने मंत्र समान।

हिन्दी अनुवाद :-

साधु धनेश्वरमुनि के द्वारा विरचित सुबोध गाथा के समूह से रम्य, राग जैसी आग और द्वेष तुल्य विषधर को शांत करने के लिए जल और मंत्र समान।

गाहा :-

एसो एत्थ समप्पइ चिर-परिचिय-वन्नणोत्ति नामेण ।

सुरसुंदरि-कहाए अट्टमओ वर-परिच्छेओ ॥ २५० ॥

संस्कृत छाया :-

एषोऽत्र समाप्यते चिरपरिचित वर्णन इति नाम्ना ।

सुरसुन्दरी कथायामष्टमो वरपरिच्छेदः ॥ २५० ॥

गुजराती अनुवाद :-

'चिरपरिचित वर्णन' नाम्ना सुरसुंदरि कथानो आ आठमो श्रेष्ठ परिच्छेद समाप्त थाय छे।

हिन्दी अनुवाद :-

'चिरपरिचित वर्णन' नामक सुरसुंदरि कथा का यह आठवाँ श्रेष्ठ परिच्छेद समाप्त होता है।

अष्टमः परिच्छेदः समाप्तः ॥ छ ॥ २००० ॥

आठमो परिच्छेद समाप्त ।



NO PLY, NO BOARD, NO WOOD



ONLY NUWUD[®]

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry, As ceilings

DESIGN FLEXIBILITY

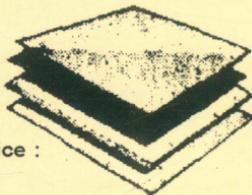
flooring furniture, mouldings, panelling, doors, windows... and almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF



Registered Head Office :
20/6, Mathura Road,
Faridabad-121006,
HARYANA.
Tel: +91 129 230400-6,
Fax: +91 129 5061037.



REG. 12608



*The one wood for
all your woodwork*

Marketing Offices

Ahmedabad : 502, Anand Mangal, Complex-1, Behind Omkar House, Near Swastika Charrasta, C.G Road, Ahmedabad-380009. Tel: 079-30958929, 31028976, Fax: 079-26466585. **Bangalore** : D 1/4, Hayes Court, 11/9 Hayes Road, Richmond Town, Bangalore. Tel: 080-30958040, 22279219, Fax: 080-22279219. **Delhi/UP** : E-46/12, Okhala Industrial Area, Phase II, New Delhi-110020. Tel: 011-26385737, 26383234, 26384656, Fax: 011-41611846. **Chennai** : Tyagraj Complex, No. 583, (New No. 250), 4A, 4th Floor, Poonamalee High Road, Kilpauk, Chennai-600010. Tel: 044-30970880, Fax: 044-25323731. **Hyderabad** : A-3, View Towers, 6-2-1, Lakadi Ka Pul, Hyderabad-560904. Tel: 040-30935561, 23307604, 23314794. **Kerala** : 33/1560-G, Chakkaramparampu Road, Vennala (P.O.), Engakulam, Kochi-682028. Tel: 0484-3969454, 3969452. **Jalandhar** : 29, G.T. Road, Kalra Building, Jalandhar-144001. Tel: 09316039144, 09347203593. **Jaipur** : 42, Dhuleshwar Garden, 1st floor, Near Ajmer Road, Jaipur-302001. Tel: 014 1-3028940, 270557, Fax: 0141-2214727. **Mumbai** : Shive Centre Office No. 214, 2nd Floor, Plot No. 72, Sec-17, Vashi Navi, Mumbai-400705. Tel: 022-39436667, 25002250, Fax: 022-25002250. **Pune** : 209, 2nd floor, Ashoka Mall, Opp. Hotel Sun N Sand, Bundgarden Road, Pune-411001. Tel: 020-39505076, 6121353, Fax: 020-26121353.